Manas-Manthan

Lakshman



न्थ के
र पर
ा है।

केन्द्र,
ये गये
ा यह
ा जो
ामान्य
पयोगी

मानस-मन्थन

चतुर्थ रत्न

(श्री लक्ष्मण-चरित्र)

मूर्धन्य मानस-मर्मज्ञ
श्री पं० रामकिंकर जी उपाध्याय
के प्रवचनों का संग्रह



सम्पादक
श्री स्वामी आत्मानन्द जी
संचालक
रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम
रायपुर (म० प्र०)

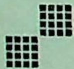


प्रकाशक
श्री बद्री प्रसाद बाजोरिया चैरिटेबिल ट्रस्ट
सहारनपुर (उ० प्र०)

प्रथम आवृत्ति रामनवमी २०३९
१९८२



मूल्य : पन्द्रह रुपया मात्र



मुद्रक :
विजय प्रकाश नवमान
औरियन्टल प्रिंटिंग प्रेस
मदारगेट अलीगढ़-202001







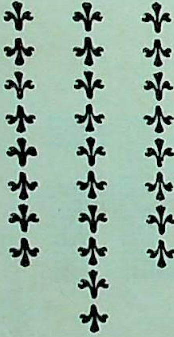


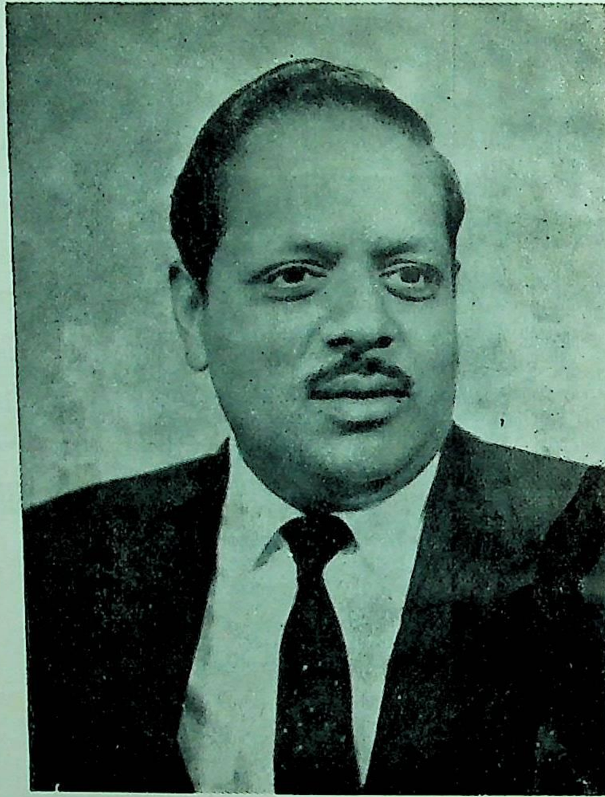


श्री राम

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्ताकामाः
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्य मूढाः पदमव्ययंतत्







स्व० श्री बद्री प्रसाद बाजोरिया

श्रद्धार्पण

मेरे पूज्य पिता श्री (स्वर्गीय श्री बद्रीप्रसाद बाजोरिया) श्री रामचरित मानस के परम भक्त थे। वे प्रतिदिन उसके एक अंश का क्रमशः पाठ किया करते थे। उनके जीवन में आस्था और आचरण का संगम था। वे जिस अंश का पाठ करते, उसके तत्व का चिन्तन करते और उसे अपने जीवन-व्यवहार में उतारने का प्रयत्न भी। उनमें समाज-सेवा की जो भावना थी, उसके विकास में इस ग्रन्थ से उन्हें सहायता मिलती है, यह उनका विश्वास था।

यों तो श्री रामचरित मानस भारत का महानतम ग्रन्थ होते हुए भी बोलचाल की सरल भाषा में लिखा गया है, पर इस सरलता में धर्म, सभ्यता, अध्यात्म और जीवन शास्त्र के बहुमूल्य हीरे-मोती छिपे हुए हैं। इन हीरे-मोतियों की जैसी खोज, परख, मूल्यांकन और विवेचन पूज्य पण्डित श्री रामकिंकरजी उपाध्याय महाराज ने किया है, वह अनेक जन्मों की साधना और भगवान की कृपा से ही संभव है। उनकी प्रवचन शैली और लेखन शैली श्रोता और पाठक के लिए अमृतवर्षी है, अनुपम है।

मेरी बहुत इच्छा थी कि पूज्य पण्डितजी के प्रवचनों के माध्यम से इन रत्नों का अधिक से अधिक देशवासी लाभ उठायें और अपने जीवन को ऊँचा उठाने की प्रेरणा पायें। पूज्य पण्डितजी की कृपा है कि उन्होंने मुझे यह सौभाग्य प्रदान किया। हमारे परिवार पर उनका स्नेह, उनकी कृपा ही है।

पूज्य पण्डितजी के इस पुण्य प्रसाद को, मैं अपने पूज्य पिताजी की पुण्य स्मृति में श्रद्धार्पण स्वरूप जनता-जनार्दन की सेवार्थ भेंट करता हूँ।

पिता धर्मः पिता स्वर्गः पिताहि परमंतपः

पितरि प्रीतिमापन्ने प्रीयन्ते सर्वदेवताः

बाजोरिया निवास, सहारनपुर। **विजय शंकर बाजोरिया**



बद्रीबाबू

मानवीय आस्था के साधक

२५ जुलाई १९२५ को एक जीवन आरम्भ हुआ और एक दिसम्बर १९७६ को वह जीवन पूर्ण हो गया, जन्म और मृत्यु के बीच अठखेलियाँ करते इक्यावन वर्ष। इन्हीं इक्यावन वर्षों का नाम पड़ गया बद्री बाबू; यानी बद्री प्रसाद बाजोरिया।

"अभी एक जर्मन नर्स आई है, पर आपके घायल पांच हैं। नर्स किसके पास भेजी जाये ?"
"जिसकी हालत सबसे अधिक खराब हो !"
"सबसे खराब हालत तो आपके नाई रामजीदास की है।"
"तो नर्स उसके ही पास भेज दीजिए।"

प्रश्नकर्त्ता थे राजधानी के डॉक्टर ताराचन्द और उत्तरदाता थे बद्री बाबू—एक भयानक मोटर दुर्घटना में पाँच आदमी घायल हुए। उन्हें नर्सिंग होम में भरती किया गया, पर उस समय दोपहर का काम समाप्त कर नर्सें चली गई थीं, बाहर से दूसरी नर्सों का प्रबन्ध किया जा रहा था। घायलों में बद्री बाबू के चार निकट सम्बन्धी और एक नाई था। बद्रीबाबू ने उसके ही पास नर्स भेजने को कहा था। यह कथन मेरे लिए बद्रीबाबू की मानवीय आस्था के अग्नि-परीक्षण का परिणाम पत्र हो गया ! हममें कितने लोग हैं, जो मृत्यु के द्वार पर पड़े आत्मीयों के बीच ऐसा निर्णय ले सकते हैं, जिसमें दृष्टि मानवता पर ही टिकी रहे, फिसलकर सम्बन्धों पर न जा टिके ;

बद्री बाबू व्यवस्था के आचार्य थे। उनकी व्यवस्था की प्रक्रिया थी, समस्या के पूरे स्वरूप पर दृष्टि, तुरन्त निर्णय, स्पष्ट निर्णय, सही निर्णय। उनकी सफलता का रहस्य था अपने निर्णय पर अमल को तुरन्त लागू कर देना और आरम्भ में ही एक के बाद एक ऐसी कड़िया बांध देना कि असफलता की कोई गुंजाइश न रहे, बीच की कोई कड़ी कमजोर भी पड़ जाये, तो उसके बाद की कड़ी उसे कसकर चुस्त कर दे !

गान्धीजी से किसी ने पूछा—"पण्डित मोतीलाल नेहरू के जीवन की सर्वोत्तम विशेषता क्या थी ?" उत्तर मिला—"अपने पुत्र जवाहरलाल से प्रेम" नया प्रश्न उभरा—"और देश-

भक्ति ?" गान्धीजी का उत्तर था "वह भी पुत्र-प्रेम से ही उपजी थी ।" बद्री बाबू की व्यवस्था भी उनकी मानवीय आस्था की ही उपज थी ।

कोर्ट रोड बंगले के बरामदे में बैठे बद्रीबाबू और मैं बातें कर रहे थे । श्रीमती सावित्री बाजोरिया (बिन्नीजी) भीतर से आकर खड़ी हुई और कहा कि स्टार पेपर मिल के जनरल मैनेजर श्री रमेशचन्द्र भार्गव का फोन आया–"पांच छह सौ मजदूर और यूनियन के लीडर आपके बंगले पर आ रहे हैं । यहाँ गरमा-गरमी हो गई है । आप बंगले का दरवाजा बन्द करा दें और बंगले से कहीं हट जायें !" वे दो-तीन मिनट चुप रहे फिर बन्दूकधारी द्वारपाल को बुलाकर कहा–"पूरा द्वार खोल दो और बन्दूक कहीं झटपट भीतर रख दो ।"

मुर्दाबाद का नारा गुंजाती भीड़ द्वार के सामने आ गई । श्रीमती सावित्री बाजोरिया भीतर जाने लगीं, तो बोले–"डरने की कोई बात नहीं है, खड़ी रहो ।" तब भेजा भीड़ को सन्देश—"इतने आदमियों से तो बात हो नहीं सकती, आप भी इसे ठीक मानेंगे । अपने पाँच प्रतिनिधि भेज दें और बाहर खड़े होने में दिक्कत हो, तो भीतर लॉन पर आ जायें ।"

नारे बन्द, प्रतिनिधि कुरसियों पर, मांगें बारह, एक-एक पर परस्पर बात और थोड़ी ही देर में सात स्वीकृत, अब रह गई पाँच । बद्रीबाबू का निर्णय है—"अब आप भार्गवजी से मिलें । आपकी मांगें उचित हैं, जरूर मानी जायेगी ।" प्रतिनिधि भार्गवजी से लड़कर आये हैं, उनके प्रति उग्र हैं –"बाबू वे अड़ियल आदमी है, हम उनसे नहीं मिलेंगे ।" शान्त भाव से बद्रीबाबू कहते हैं–"देखिये, मैनेजर तो भार्गवजी ही हैं । बात भी उनके ही महकमे की है । फिर आप को काम उनके ही साथ करना है । उनसे बनाकर रखने में आपका हित है । आप उनसे मिलें । बात जगह पर न बैठे, तो हम यहाँ हैं ही !" प्रतिनिधि जाते हैं, मजदूरों से बात करते हैं । नारा गूंजता है—बद्रीबाबू जिन्दाबाद, बद्रीबाबू हाथ जोड़कर नमस्कार करते हैं । जलूस चल पड़ता है, नारा दूर तक सुनाई देता है ।

मैं उन्हें विख्यात जादूगर सरकार का शिष्य बताता हूँ, तो कहते हैं–"आप किसी की उचित मांग मानलें, तो उसकी अनुचित मांग स्वयं मुरझा जाती है ।" फोन पर भार्गवजी को विवरण देकर कहा–"दो मांगों पर तुरन्त हाँ कहना और तीन के लिए कहना कि फाइल देखेंगे ।" मैंने कहा–"पाँचों बातें अभी क्यों न मानलें ?" बोले शान्ति के वातावरण में बातचीत चलेगी, दो-चार बार मिलेंगे तो दोनों पक्षों का तीखापन कम होगा और बातचीत से मामले सुलझाने की वृत्ति का विकास होगा ।" आगे बातचीत में कहा—मालिकों या प्रबन्धकों का यह सोचना सबसे खराब बात है कि हम कोई अलौकिक जीव हैं, जो हम सोचते हैं, वही ठीक है और मजदूरों का यह सोचना सबसे खराब बात है कि हम एक संगठित हैं, ताकत के जोर से हुल्लड़ कर, उचित-अनुचित सब मनवा सकते हैं ।" तो उनकी व्यवस्था भी मानवीय आस्था की ही उपज थी ।

किन्हीं दो में किसी बात पर मतभेद हो जाता, बात बद्रीबाबू तक आती । वे हर केस में

दोनों से एक ही प्रश्न पूछते—"आगे क्या ?" मतलब यह कि आगे भी ऐसी ही भूल करनी है या अपने को सुधारना है ? कुछ मिनटों में ही मतभेद, मनभेद होने से बच जाता । जाने कितनों को उन्होंने सम्भाला, सवाँरा, बनाया, बढ़ाया और जाने कितने ऐसे हैं, जिनके नाम उनके मरने के कुछ दिन बाद ही विस्मरण के अंधकार में डूब जाते, पर आज वे समाज में बद्रीबाबू के कारण आदर से स्मरणीय हैं । पर—चिन्ता को आत्म चिन्ता बना लेना उनका संस्कार था । श्रीमती सावित्री बाजोरिया के शब्दों में—"वे सबसे अधिक प्रसन्न होते थे, दूसरों का काम सवाँर कर ।"

एक दिन गप शप हो रही थी । बात 'हौबी' पर आ गई । मैंने पूछा—"बद्रीबाबू,आपकी हौबी क्या है ?" बोले—"हमारी हौबी सामाजिक कार्य है । मन में कोई नया संकल्प जागता है, प्रयत्न करते हैं, वह हो जाता है, तो आन्तरिक सुख मिलता है ।"

इधर उनकी प्रवृत्ति अन्तर्मुखी होती जा रही थी । प्रतिदिन पाँच घंटे ध्यान, भजन, जाप करते थे । चेहरे में आत्मा की झलक आने लगी थी । एक दिन मैंने कहा—"आप इधर कुछ बदल रहे हैं !" बोले—"नहीं, बस इतनी बात है कि गलत फहमी दूर हो गई है !" मैंने पूछा—"कैसी गलत फहमी ?" बोले—"यह भ्रम दूर हो गया है कि रुपया ही सब कुछ है, सर्वोत्तम है । रुपये की उपयोगिता है, पर ईश्वर को, देश को भूलकर तो रुपया जहर है ।" एक दिन ऐसे ही प्रसंग में कहा—"स्वतन्त्रता के आरम्भ में नेहरूजी ने कहा था कि जो भृष्टाचार करेगा, उसे सामने वाले बिजली के खंभे पर फाँसी लगाई जायेगी । ऐसा होता, तो उससे देश का, हम उद्योगपतियों का और राजनीतिज्ञों का बहुत लाभ होता !"

समय की पाबंदी तो उनका चरित्र ही बन गया था । किसी से मिलने का समय पाँच बजे निश्चित होता, तो कमरे में इस द्वार से मिलने वाले प्रवेश करते, उस द्वार से बद्रीबाबू । कोई देर में आता, तो दरवाजे के भीतर पैर रखते ही कहते—"आप इतनी मिनट लेट हैं ।" आने बाला कितना ही वातूनी हो, आवश्यकता से अधिक एक मिनट नहीं ले सकता था । काम की बात पूरी होते ही आत्मीयता के स्वर में पूछते—"और सब ठीक है ?" और खड़े होकर नमस्कार करते ! इस विषय के सौ संस्मरण एक ही संस्मरण में समाये हुए हैं । उन्हें एक ऐसी पार्टी में जाना था, जहाँ पति-पत्नी दोनों के साथ जाने का नियम था । वे समय पर आये और बिन्नीजी से पुछवाया—"कितनी देरी ?" उन्होंने कहलाया—"दस मिनट !" बद्रीबाबू गाड़ी में बैठकर चले गये और एक मित्र को छोड़ गये कि वे बिन्नीजी को ले आयें ! शिथिलता से भी उन्हें चिढ़ थी, न काम में ढील करते थे, न दूसरों को करने देते थे । संक्षेप में, बद्रीबाबू एक व्यक्तित्व भी थे, व्यक्तित्व-शिल्पी भी थे । उनकी स्मृतियों के सन्देश हम सब सुनें, गुनें; यही सच्ची श्रद्धांजलि है ।

कन्हैया लाल मिश्र "प्रभाकर"

।। श्री रामः शरणं मम ।।

"श्रद्धाँजलि"

साकेत वासी श्री बद्री प्रसाद जी बाजोरिया में समृद्धि और शील का अद्‌भुत सामञ्जस्य था। वे भक्त हृदय और श्री राम के अनन्यानुरागी थे। उनकी स्मृति में श्रद्धांजलि अर्पित करने का उपयुक्त माध्यम वही हो सकता है जो उन्हें तृप्ति दे सके। मानस में जो उनकी प्रगाढ़ प्रीति थी। उसको दृष्टिगत रख करके ही प्रस्तुत पुस्तक का प्रकाशन किया जा रहा है।

चि० श्री विजय शंकर जी बाजोरिया अपने पिता के समृद्धि और सद्‌गुण दोनों के उत्तराधिकारी हैं। अपने पूज्य पिताजी की स्मृति में इस रूप में पुस्तक प्रकाशित करने का संकल्प उसी श्रद्धा भावना की अभिव्यक्ति है जो उनके अन्तःकरण में विद्यमान है। इसके लिए वे हार्दिक आशीर्वाद के पात्र हैं।

रामकिंकर



सम्पादकीय

हिन्दी-भाषी धर्म-जिज्ञासुओं और साहित्य-पिपासुओं में सम्भवतः ऐसा कोई न होगा, जिसने 'रामचरित मानस' के उद्‌भट विद्वान और रामकथा के अप्रतिम व्याख्याकार पण्डित रामकिंकर जी उपाध्याय का नाम न सुना हो। इन कुछ वर्षों में उनकी कृतियों तथा उनके प्रवचन-संग्रहों के प्रकाशन से हिन्दी का धर्म और अध्यात्म साहित्य विशेष समृद्ध हुआ है। उनका 'मानस' पर चिन्तन सर्वथा मौलिक है। उनकी व्याख्या बीते हुए कल को आज के परिप्रेक्ष्य में लाकर खड़ा कर देती है और मानव-जीवन की समस्याओं का ऐसा सुचिन्तित समाधान प्रस्तुत करती है कि श्रोता और पाठक उनके विचारों को सुनकर और पढ़कर धन्यता का बोध करने लगते हैं। उनकी कथा-शैली ऐसी बेजोड़ है कि वह 'मानस' के सम्बन्ध में गोस्वामी तुलसीदासजी की उक्ति—"बुध बिश्राम सकल जन रंजनि"—को अक्षरशः चरितार्थ करती है।

'मानस-मन्थन' का यह चतुर्थ रत्न उनके द्वारा दिल्ली के बिड़ला लक्ष्मीनारायण मन्दिर में ४ से ११ अप्रैल (१९७३) तक 'लक्ष्मण-चरित्र' पर दिये गये आठ प्रवचनों का संग्रह है। पण्डितजी की विवेचना में 'मानस' के पात्र मात्र ऐतिहासिक नहीं रह जाते, वे तो वर्तमान के जीवन्त सत्य बनकर, मानो हमारे साथ रहकर, हमारा पथ-प्रदर्शन करते हैं। उनके व्याख्यानों को सुनते समय ऐसा लगता है कि हम रामायणकालीन परिवेश में चले गये हैं और मानो राम-कथा के एक पात्र बन गये हैं। जब वे कथा के पात्रों के अन्तरंग का विश्लेषण करते हैं, तो लगता है कि हमारे ही अन्तरंग का विश्लेषण किया जा रहा है, और तब हमें अपने जीवन की समस्याएँ स्पष्ट दीखने लगती हैं तथा साथ ही उनके समाधान भी। यह खूबी पण्डित रामकिंकर जी की अपनी है।

यही कारण है कि मैं पण्डितजी के प्रवचनों के सम्पादन-कार्य में एक विशेष आत्मिक सुख की अनुभूति करता हूँ, क्योंकि उनके द्वारा मुझे उस दिव्य परिवेश में कुछ समय बिताने का दुर्लभ लाभ मिल जाता है। ये प्रवचन पहले रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर की त्रैमासिक पत्रिका 'विवेक-ज्योति' में धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुए थे। सुधी और सहृदय पाठकों की निरन्तर माँग के कारण इसे प्रस्तुत ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित किया जा रहा है।

टेप से प्रवचनों को उतारने का श्रम-साध्य कार्य श्री नन्द किशोर स्वर्णकार ने किया है, जो दिल्ली की सालिड स्टेट फिजिक्स लेबोरेटरी में कार्यरत हैं। हम उनकी इस बहुमूल्य सेवा के लिए उनके बड़े आभारी हैं।

विश्वास है, 'मानस-मन्थन' का यह चतुर्थ रत्न भी उसके प्रथम तीन रत्नों की ही भाँति सुधी पाठकों द्वारा आदर और उल्लासपूर्वक गृहीत होगा।

—स्वामी आत्मानन्द

प्रथम व्याख्यान

गोस्वामी तुलसीदासजी श्री लक्ष्मणजी की वन्दना करते हुए कहते हैं--

बंदउँ लछिमन पद जल जाता ।
सीतल सुभग भगत सुख दाता ।।
रघुपति कीरति बिमल पताका ।
दंड समान भयउ जस जाका ।।
सेष सहस्र सीस जग कारन ।
जो अवतरेउ भूमि भय हारन ।।
सदा सो सानुकूल रह मो पर ।
कृपासिन्धु सौमित्रि गुनाकर ।।१।१६।५।८

लोग लक्ष्मणजी के चरित्र तथा व्यक्तित्व में विरोधाभास देखते हैं। गोस्वामीजो की दृष्टि में भी यह विरोधाभास था और इसी के स्पष्टीकरण के लिए उन्होंने श्री लक्ष्मणजी की वन्दना का थोड़ा अधिक विस्तार किया। उनकी बन्दना में उर्पयुक्त चार पंक्तियों का उपयोग किया गया है, जबकि भरतजी की वन्दना में दो ही पंक्तियाँ लिखी गयी हैं--

प्रनवउँ प्रथम भरत के चरना ।
जासु नेम ब्रत जाइ न बरना ।।
राम चरन पंकज मर्न जासू ।
लुबुध मधुप इव तजइ न पासू ।।१।१६।३-४

शत्रुघ्नजी की वन्दना भी एक पंक्ति में कर ली गयी--

रिपुसूदन पद कमल नमामी ।
सूर सुसील भरत अनुगामी ।।१।१६।६

भगवान श्री राम की वन्दना भी दो पंक्तियों में की गयी--

पुनि मन बचन कर्म रघुनायक ।
चरन कमल बंदउँ सब लायक ।।
राजिवनयन धरें धनु सायक ।
भगत बिपति भंजन सुखदायक ।।१।१८।९-१०

अत: लक्ष्मणजी की वन्दना में चार में पंक्तियों के प्रयोग का क्या तात्पर्य है ? गोस्वामीजी उनकी वन्दना का इतना विस्तार क्यों करते हैं ? वस्तुतः इस विस्तार का एक सांकेतिक अर्थ है । इन पंक्तियों में गोस्वामीजी ने लक्ष्मणजी का जो तात्त्विक पक्ष है, उसे भी जोड़ दिया है । श्री भरत की वन्दना में उनके व्यक्तित्व, उनके सन्तत्व की वन्दना है, पर श्री लक्ष्मण की वन्दना में मात्र उनके व्यक्तित्व या चरित्र की वन्दना नहीं है, बल्कि उसके साथ साथ गोस्वामीजी ने उनके आध्यात्मिक रूप को भी प्रस्तुत कर दिया है । और प्रारम्भ में ही उनके आध्यात्मिक रूप के संकेत देने का एक विशेष तात्पर्य है । श्री लक्ष्मणजी के चरित्र को लेकर जो एक प्रकार से भ्रान्त भाव बनता है, जो ऐसा जान पड़ता है कि वे वीर और योद्धा होते हुए भी मर्यादा का अतिक्रमण कर जाते हैं, आवेश में आ जाते हैं, ऐसी भूल धारणा का निराकरण करने के लिए ही गोस्वामीजी श्री लक्ष्मण के तात्त्विक रूप को प्रारम्भ में ही प्रस्तुत कर देते हैं। श्री लक्ष्मणजी की वन्दना की प्रथम दो पंक्तियाँ उनके चरित्र की वन्दना है । तीसरी पंक्ति एक विशेष उद्देश्य से रखी गयी है । भरतजी का परिचय देने के लिए गोस्वामीजी को यह बताने की आवश्यकता नहीं थी कि श्री भरत अपने मूल तात्त्विक रूप में क्या हैं । पर लक्ष्मणजी का परिचय देने के लिए यह स्पष्ट किया गया कि उनके तात्त्विक स्वरूप को समझ लेने के बाद ही हम उनके चरित्र के प्रति ठीक-ठीक न्याय कर सकते हैं । जिस सूत्र के आधार पर गोस्वामीजी लक्ष्मणजी के चरित्र का विस्तार और विश्लेषण करते हैं, उसे प्रारम्भ में ही प्रस्तुत कर देना मैं उचित समझता हूँ ।

वस्तुतः जो भक्त का पक्ष है, वह दर्शन भावना और चरित्र इन तीनों का समन्वय है । लक्ष्मणजी का चरित्र मूलतः शेष का आध्यात्मिक स्वरूप प्रस्तुत करता है, पर चरित्र के रूप में इसमें भावना और चरित्र के अनुपम तत्त्व भी विद्यमान हैं । इसे यों भी कह सकते हैं कि ज्ञान और भक्ति में जो अन्तर है, वह कारण और फल का अन्तर है । ज्ञान या विचार या दर्शन का जो केन्द्र है, वह सृष्टि के मूल का, उसके कारण तत्व का अन्वेषण करता है । भक्त भी उस कारण की चर्चा तो करता है, पर उसके करने की पद्धति दूसरी है । इसे यों समझें — एक आम का वृक्ष है; आम्रवृक्ष के मूल में क्या है यह तो विचार की परम्परा है, पर आम का जो परिणाम है, जो फल है, उसका शोध भक्ति की परम्परा है । लेकिन विचित्र बात यह है कि जो मूल में होता है, वही परिणाम में होता है । इसका तात्पर्य यह है कि जो आम्रवृक्ष लगाया गया, उसके मूल में भी आम की गुठली ही है, और जब इस वृक्ष का परिणाम फल के रूप में मिलेगा, तो उसमें भी आम की गुठली ही होगी । तो, जो मूल के कारण के रूप में विद्यमान है, वही फल के रूप में विद्यमान है । पर भक्त लाभ में रहा । जिस व्यक्ति ने गुठली की खोज की, उसने आम की उत्पत्ति का विज्ञान तो जान लिया,

पर जिसने आम के फल को खोजा, उसने आम का कारण तो पाया ही, साथ में रस की भी प्राप्ति कर ली । गुठली रस नहीं देती, पर आम का फल गुठली और रस दोनों एक साथ देता है । यही भक्ति की परम्परा है तभी तो काकभुशुण्डिजी लोमशजी से कहते हैं कि मुझे ज्ञान नहीं चाहिए, मैं तो भक्ति चाहता हूँ ।भक्ति की आवश्यकता ज्ञान की विरोधी नहीं है । वे सांकेतिक रूप से कहते हैं कि मुझे श्री राम की बालक्रीड़ा चाहिए, मुझे अयोध्या के श्रीराम अच्छे लगते हैं—

भरि लोचन बिलोकि अवधेसा।
तब सुनिहउँ निर्गुन उपदेसा।। ७।११०।११

और इसका परिणाम क्या होता है ? गोस्वामीजी उत्तरकाण्ड में बतलाते हैं कि भुशुण्डिजी बालक राम के साथ खेलने में रस तो लेते हैं, पर खेल ही खेल में भगवान् राम उन्हें एक दिन समस्त वेदान्त के तत्त्वज्ञान का दर्शन करा देते हैं । इस प्रकार, मूल और परिणाम की दृष्टि से विचार करना ज्ञान और भक्ति की परम्परा का भेद है ।

तो, गोस्वामीजी ने 'रामचरितमानस' में लक्ष्मणजी का चरित्र एक मीठे फल के रूप में प्रस्तुत किया है, पर इसके साथ ही उसके मूल में जो कारण है, उसका उल्लेख भी उन्होंने अवश्य कर दिया है । यह मूल कारण लक्ष्मणजी के तात्त्विक रूप को प्रकट करता है, जिसे हम अभी देखने का प्रयास करेंगे । लक्ष्मणजी का परिचय देते हुए कहा गया है 'जो शेष हैं, सहस्रशीर्ष हैं, सृष्टि के कारण हैं और संसार के भार का हरण करने के लिए अबतरित हुए हैं, उन लक्ष्मण जी की मैं वन्दना करता हूँ और मैं प्रार्थना करता हूँ कि वे मेरे ऊपर कृपा करें ।' इसमें भक्ति का पक्ष है कृपा और रस की उपलब्धि, तथा अध्यातम का पक्ष है '**सेष सहस्र सीस जग कारन**' । तो, मैं अध्यातम पक्ष से ही प्रारम्भ करूँगा । शुष्कता से प्रारम्भ करना ठीक है, जिससे बाद में शुष्कता का बोध न हो ।

लक्ष्मणजी का परिचय देते हुए कहा गया है कि वे सहस्रशीर्ष शेष हैं और जगत् का कारण हैं । जगत के कारण को समझने के लिए यह जानना आवश्यक है कि जब सृष्टि नहीं थी, तव क्या था ? हमें सृष्टि तो दिखायी देती है, पर उसका आदि और अन्त दिखायी नहीं देता । हम केवल मध्य को ही देख पाते हैं । यदि हम इस दृश्यमान संसार के आदि और अन्त को जान सकें, तो सम्भव है सृष्टि की बहुत सी समस्याओं का समाधान हमें प्राप्त हो जाय । पुराणों में कहा गया है कि आदि में केवल जल ही जल था और उस जल में भगवान् शेषशय्या पर शयन कर रहे थे तथा लक्ष्मीजी चरणों में बैठी थीं । इस प्रकार तब केवल नारायण, लक्ष्मी और शेष ये ही तीनों थे । शेष को कालतत्त्व कहा जाता है, जो नारायण के सुप्त होते हुए भी सदा जाग्रत् है । अभिप्राय यह है कि जब सृष्टि नहीं है, तब भी नारायण हैं, पर वे सुषुप्त हैं । किन्तु जो कभी नहीं सोता निरन्तर जाग्रत् और चैतन्य है, वह है सहस्त्रशीर्ष शेष ।

इस दृष्टान्त को व्यक्ति अपने जीवन के माध्यम से भी समझ सकता है ।प्रत्येक

व्यक्ति के जीवन में एक नित्य प्रलय की अनुभूति होती है । जब हम सोते हैं, तो उस समय एक प्रलय-सा ही हो जाता है । जैसे प्रलय में सृष्टि का अभाव होता है, वैसे ही हमारी सुषुप्ति अवस्था में हमारे लिए सृष्टि कुछ नहीं होती, हमारा संसार लुप्त हो जाता है । न वहाँ व्यक्ति है, न परिवार, न अन्य सम्बन्ध; उस समय किसी बात की अनुभूति नहीं होती । पर उस समय भी दो वस्तुएँ व्यक्ति के साथ रहती हैं---एक तो उसकी क्षमताएँ, उसकी शक्ति और दूसरी, काल । इसे यों समझें । जैसे एक वक्ता है । जिस समय वह शयन करेगा, उस समय भले ही वह भाषण नहीं दे रहा होगा, पर उसकी वक्तृत्व-शक्ति तब भी उसके साथ होगी; वह वक्तृत्व-शक्ति प्रत्यक्ष दिखायी न देती हुई भी उसके अन्तस्तल में शान्तभाव से विद्यमान होगी । इसी प्रकार, जब व्यक्ति को नींद आती है, तो उसे भय की अनुभूति नहीं होती । क्यों ? प्रलय की बात सुनकर तो लोग घबरा जाते हैं । कुछ वर्ष पूर्व जब अष्टग्रही का योग आया था, तो लोग प्रलय के भय से आतंकित हो गये थे । उस समय मैं कलकत्ते में था । जहाँ मैं सोया हुआ था, वहाँ के नौकर रात में मकान में नहीं रुके वे जाकर बाग में सोये । मैंने जब पूछा कि मकान के रहते तुम लोग बाग में जाकर क्यों सोओगे, तो वे बोले, "मकान तो प्रलय में गिर पड़ेगा ?" मैंने कहा, 'वहाँ भी तो प्रलय हो सकता है ।"उन्होंने उत्तर दिया, "पर बाग में कम से कम दबने का तो डर नहीं है ! " अभिप्राय यह है कि प्रलय के नाम से ही व्यक्ति काँपने लगता है । पर जब वह अपने जीवन में प्रतिदिन प्रलय में जाता है, तो उसे भय की अनुभूति नहीं होती । इस अन्तर का कारण क्या ? कारण यह है कि नींद में जाते हुए भी व्यक्ति को काल का स्मरण बना रहता है, वह जानता है कि वह सो रहा है और जब जागेगा, तो जिन वस्तुओं को छोड़कर वह नींद में जा रहा है, वे उसे पुनः प्राप्त हो जाएँगी । व्यक्ति के अन्तस्तल में यह जो धारणा है कि हम सोने के बाद फिर से उठेंगे, वही उसे आश्वस्त करती है । आपने काल के इस निश्चय का अनुभव अपने जीवन में कई वार किया होगा । कई लोग कहते हैं---मैं तकिये से कहता हूँ कि मुझे ४ बजे जगा देना, तो मुझे जगा देता है । इसका क्या तात्पर्य ? तकिया भला क्या जगाएगा ? वह व्यक्ति वस्तुतः काल से अनुरोध करता है कि मुझे जगा देना । व्यक्ति जानता है कि उसके सो जाने पर भी काल नहीं सोता, सदा जागता रहता है । यह कालतत्त्व ही हमारे अनुरोध पर हमें सोते से जगा देता है । यह जैसे एक व्यष्टि का अनुभव है, वैसे ही इसे यदि समष्टि के, सृष्टि के सन्दर्भ में देखें, तो हम पाएँगे कि जब सृष्टि नहीं होगी, तब भी ईश्वर होगा, उसकी शक्ति होगी और शेष के रूप में काल होगा । यह शेष ही आज लक्ष्मणजी के रूप में अवतरित होते हैं । गोस्वामीजी ने पहले ही संकेत कर दिया कि देखो, काल से अगर कुछ डर लगे, तो कोई आश्चर्य नहीं है--लक्ष्मणजी का चरित्र यदि कुछ घवराहट पैदा करे, तो स्वाभाविक बात है ।

व्यक्ति काल को भला कहाँ उतनी सरलता से स्वीकार कर पाता है ?

इसीलिए 'मानस' में गोस्वामीजी जब सृष्टि के कारणों का उल्लेख करते हैं, तब भगवान् श्री राम, श्री सीताजी तथा श्री लक्ष्मण इन तीनों का वर्णन करते हैं। जब भगवान राम का वर्णन करते हैं' तो कहते हैं, कि---

पुरुषसिंह दोउ बीर हरषि चले मुनि भय हरन ।

कृपासिंधु मतिधीर अखिल बिस्व कारन करन ॥

१।२०८।ख

---वे समस्त विश्व के कारण और करण हैं। लक्ष्मणजी के लिए कहते हैं---

सेष सहस्त्र सीस जग कारन । १।१६।७

और यही बात सीताजी के लिए कही गयी है--

आदिसक्ति जेहिं जग उपजाया।१।१५१।४

इसका अभिप्राय यह है कि सृष्टि के निर्माण में तीन ही वस्तुएँ होंगी---ईश्वर होगा उसकी शक्ति होगी और काल होगा। अगर सामर्थ्य न हो तो, सृष्टि का निर्माण कैसे होगा ? निर्माता ईश्वर न हो, तो शक्ति का प्रयोग कौन करता है, तो वह चमत्कारिक दृष्टि से नहीं करता, बल्कि कालक्रम से करता है। जैसे, हमने आम का बीज लगाया, तो चमत्कार से कोई आम का वृक्ष खड़ा नहीं हो जायगा, बल्कि उसमें क्रम से विकास होगा, वह पहले अंकुरित होगा, फिर उसमें से पौधा फूटेगा और इस प्रकार कालक्रम से उसमें से आम के वृक्ष का विस्तार होगा। अभिप्राय यह है कि सृष्टि के मूल में काल, शक्ति और ईश्वर तीनों ही विद्यमान हैं और ये क्रमशः श्री लक्ष्मण, श्री सीता और श्री राम के रूप में अवतरित होते हैं। ईश्वर और शक्ति के मध्य में काल की भूमिका है और इस काल को शेष कहकर पुकारा गया है। यानी लक्ष्मण शेष हैं। 'शेष का अर्थ होता है 'बचा हुआ'—सब कुछ मिट जाने के बाद भी जो बचा रहता है, उसका नाम है शेष।

एक मीठा-सा व्यंग्य 'रामचरितमानस' में आता है। परशुराम श्री लक्ष्मण को बालक के रूप में देखते हैं। आज भी बहुत से लोग लक्ष्मणजी और उनके चरित्र को समझ नहीं पाते। इसका कारण यह है कि हम वह नहीं देखते, जो लक्ष्मणजी यथार्थ में हैं। नाटक में किसी की भूमिका के साथ आप न्याय तभी कर सकते हैं, जब आप उसकी भूमिका को सही अर्थ में समझें। श्री लक्ष्मण की भूमिका को बहुत कम लोग समझ पाते हैं और इसलिए कभी कभी उनके चरित्र में बड़ा विरोधाभास जान पड़ता है। और यह काल है भी बड़ा विरोधाभासी। काल से सृष्टि का उदय होता है,

काल में सृष्टि स्थिति होती है, फिर काल से ही सृष्टि समाप्त भी होती है। जो सृष्टि को बनाता है, वही बिगाड़ता भी है। बनाना तो सबको अच्छा लगता है, पर बिगाड़ना भला किसको अच्छा लगेगा ? काल अपनी प्रकृति से बाध्य है, वह निर्माण और ध्वंस दोनों करेगा । लक्ष्मणजी के चरित्र का यही तत्त्व सामान्यतया उनके विरोधाभास को प्रकट करता है। यही कारण है कि जब लक्ष्मणजी बोलते हैं, तो साधारणतया व्यक्ति को लगता है कि यह बालक कितना ढीठ है। परशुरामजी को भी ऐसा लगा। हम लोग परशुराम को भी अवतार मानते हैं और उनके लिए कहते हैं कि वे पूर्णावतार नहीं, आवेशावतार हैं। आवेशावतार कहने का तात्पर्य यह है कि जैसे आपको किसी समय तीव्र उत्साह आ जाय और उस आवेश में आप बड़े से बड़ा काम कर लें, वैसे ही परशुरामजी को बीच बीच में ईश्वरीय आवेश आ जाया करता है और जब वह आवेश समाप्त हो जाता है, तो वे एक महात्मा-मुनि के रूप में रह जाते हैं। एक ओर वे खड़े हैं और दूसरी ओर हैं भगवान् राम, जो साक्षात् पूर्णावतार हैं, शाश्वत ईश्वर हैं। इन दोनों के बीच में संघर्ष की स्थिति है--राम से राम का युद्ध है, प्रकाश से प्रकाश का युद्ध! अन्धकार और प्रकाश का संघर्ष तो समझ में आता है, पर यह विचित्र है कि प्रकाश और प्रकाश में भी संघर्ष होता है। और यह भी उल्लेखनीय तथ्य है कि रावण से भगवान् राम का संघर्ष तो बाद में हुआ, पर पहले परशुराम से संघर्ष होता है। इसका अभिप्राय यह है कि केवल रोग ही समस्या नहीं है, दवा भी समस्या है। शरीर में रोग होने पर लोग दवा लेते हैं और उसके पश्चात् कहते हैं कि रोग तो अच्छा हो गया, पर दवा की प्रतिक्रिया का रोग उत्पन्न हो गया है ! दवा के द्वारा रोग मिटे यह चेष्टा तो रहती है, पर साथ ही यह भी प्रयत्न रहता है कि दवा की प्रतिक्रिया का शमन कैसे हो। इसीलिए आयुर्वेद शास्त्र में जो परम्परा है, उसमें औषध के साथ अनुपान की व्यवस्था है। यह अनुपान औषध की प्रतिक्रिया के उपशमन के लिए होता है। उदाहरणार्थ, एक औषध में तीव्र ताप है, उष्णता है। रोग के निवारण के लिए जितनी उष्णता चाहिए, उससे कहीं अधिक उष्णता उसमें है । इस अतिरिक्त उष्णता के उपशमन के लिए अनुपान की व्यवस्था की जाती है। तो, परशुराम आये थे दवा बनकर और बाद में वे रोग बन गये। अभिप्राय यह कि दवा के रूप में पाप को मिटाने के लिए परशुराम आये। और जब पाप के मिटने के फलस्वरूप पुण्य आया, तो पुण्य भी बीमारी हो गयी ।

किसी ने गोस्वामीजी से पूछा कि श्री राम के अवतार के पहले परशुराम का अवतार तो था ही, फिर इस नये राम की क्या आवश्यकता थी ? परशुराम में सामर्थ्य की तो कोई कमी थी नहीं। गणित के क्रम से भी देखें, तो श्री राम की आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि सहस्रार्जुन ने रावण को हराया और सहस्रार्जुन को परशुराम ने हरा दिया जब परशुराम सहस्रार्जुन को हरा सकते थे, तो रावण को

हराना उनके लिए कठिन क्यों होता ? फलतः श्री रामके अवतार की कोई आवश्यकता नहीं थी । इसके उत्तर में गोस्वामी जी ने दृष्टान्त दिया नदी का । अग्नि को बुझाने के लिए जल आवश्यक है और जल नदी में है, पर नदी भी तो समस्या बन जाती है । यह ठीक है कि नदी के जल में स्नान करके मनुष्य स्वच्छ होता है, वस्त्रों को धोकर साफ करता है, लेकिन नदी में यदि बाढ़ आ जाय तो वही जीवन के स्थान पर मृत्यु का सन्देश लेकर आती है । गोस्वामीजी कहते हैं कि परशुराम नदी बनकर आये । और भगवान् राम कब आये ? जब इस नदी में बाढ़ आ गयी तब वे लिखते हैं -

घोर धार भृगुनाथ रिसानी ।
घाट सुबद्ध राम बर बानी ॥ १।४०।४

—जैसे बाढ़ आने पर बाँध बाँध देते हैं, ऊँचा घाट बना देते हैं, उसी प्रकार परशुराम-चरित्र की जीवनदायिनी नदी में जब क्रोध की बाढ़ आ गयी, तो श्री राम घाट बनकर आये । तो, एक ओर वेगवती, क्रोधवती नदी की तेज धारा के समान परशु-राम का आवेश है, तो दूसरी ओर धनुष तोड़ने के बाद भी श्री राम में अभिव्यक्त प्रशान्ति है । दोनों रामों की यहीं तुलना हो गयी । होना तो यह चाहिए था कि धनुष तोड़ने के बाद श्रीराम आवेश और गर्व से भरे होते कि मैंने इतना बड़ा काम कर दिया । पर यह बड़ी अद्भुत बात है कि जिसने इतना बड़ा काम किया, वह शान्त खड़ा है ।

किसी ने गोस्वामीजी से कहा कि परशुरामजी की नदी में श्री राम घाट बन कर आ गये, तो श्री राम के लिए भी तो किसी को आना था ? गोस्वामीजी ने कहा कि परशुराम नदी हैं, तो श्री राम समुद्र हैं । नदी की बाढ़ रोकने के लिए तो घाट बना लीजिए, पर समुद्र में बाढ़ कहाँ आती है ? समुद्र तो अपने आप में पूर्ण है । भाव यह है कि एक-दो घण्टा वर्षा होने से भले नदी में बाढ़ आ जाय, पर समुद्र में तो अनादि काल से जाने कितनी नदियाँ प्रतिक्षण गिर रही हैं, फिर भी वह ज्यों का त्यों है । यही अपूर्ण और पूर्ण का अन्तर है । परशुराम की सामयिक सफलता ने उनमे बाढ़ ला दी, पर श्री राम पूर्ण थे, इसलिए सफलताओं की कितनी भी नदियाँ जाकर उनमें गिरें, उनके व्यक्तित्व में कोई अन्तर पड़ने वाला नहीं था । धनुष का टूटना श्री राम के लिए कोई महत्व नहीं रखता था । भगवान् उसे दूसरी ही दृष्टि से देखते हैं । वे तो कालतत्त्व के द्वारा ही सृष्टि का संचालन करते हैं । यह ध्यान रखें कि ईश्वर को भी कालतत्त्व की मर्यादा स्वीकार करनी पड़ती है । आगे चलकर जब परशुरामजी श्री राम पर आक्षेप करते हुए कहते हैं, "लगता है धनुष तोड़कर तुम्हें बड़ा अहंकार हो गया है !" तो श्री राम मुसकराकर कहते हैं, "मैंने यदि यह

धनुष तोड़ा होता, तो अवश्य अहंकार होता। "बड़ा सार्थक उत्तर दिया प्रभु ने। परशुराम का कहना उनकी अपनी दृष्टि से सही है। कोई सुन्दर महल की रचना करे, तो अहंकार का होना स्वाभाविक है। कोई सुन्दर कविता रच डाले, तो अहंकार आ ही जायगा। अतः धनुष को तोड़ने-जैसा बड़ा काम करके राम को अहंकार कैसे नहीं होगा ? पर श्री राम का उत्तर बड़ा सार्थक है—"यदि मैंने धनुष-भंग का कार्य किया होता, तो अहंकार अवश्य होता। पर मैंने यह कार्य कहाँ किया? वह तो अपने आप हो गया !" यही जीव और ईश्वर का भेद है। जीव मानता है कि मैं करता हूँ, इसलिए उसे अहंकार होता है, पर ईश्वर की मान्यता क्या है ? हम भले ही कहें कि ईश्वर ने धनुष को तोड़ दिया, उसने इस वस्तु का निर्माण किया, पर वह स्वयं क्या मानता है ? भगवान् राम उत्तर देते हुए कहते हैं—

छुअतहिं टूट पिनाक पुराना ।
मैं केहि हेतु करौं अभिमाना ॥१।२८२।८

यहाँ 'पुराना' शब्द बड़ा सांकेतिक है। श्री राम परशुराम से मानो कहते हैं— 'आप तो जानते ही हैं कि प्रत्येक वस्तु काल पाकर क्षीण होती है। जो वस्तु आज नूतन है, वही कल पुरानी हो जायेगी और जो वस्तु पुरानी है, उसका एक दिन विनाश हो जायगा। धनुष को तो एक न एक समय टूटना ही था, क्योंकि वह पुराना हो गया था। अब यह तो मात्र एक संयोग था कि वह मेरे द्वारा टूट गया। उस निर्दिष्ट समय में यदि कोई भी पहुँच जाता, तो धनुष टूट ही जाता। यह संयोग की बात है कि गुरुदेव ने मुझे आज्ञा दे दी।'

गोस्वामीजी ने संकेत भी किया है कि अन्य राजाओं से धनुष क्यों नहीं टूटता। किसी ने गोस्वामीजी से पूछा—अच्छा, जब विश्वामित्र को आज्ञा देनी ही थी, तो उन्होंने श्री राम को धनुष तोड़ने की आज्ञा कुछ पहले ही क्यों न दे दी ? गोस्वामीजी इसका उत्तर देते हुए संकेत करते हैं— 'बिश्वामित्र समय सुभ जानी'। जब विश्वामित्र ने देखा कि अब वह काल आ गया है जब धनुष को टूटना है, तब वे आज्ञा देते हैं। ज़िस घटना का जो समय है, वह उसी समय घटती है और ईश्वर भी काल की इस मर्यादा को स्वीकार करता है। जो व्यक्ति काल के द्वारा होनेवाले कार्य को स्वयं अपने द्वारा सम्पन्न मानता है, वही अहंकार कर सकता है। पर श्री राम तो धनुष के टूटने का कारण काल को मानते हैं। यह बात परशुराम नहीं समझ पाते। श्री राम और परशुराम आमने-सामने खड़े हैं पर दोनों के व्यक्तित्व में इतनी भिन्नता है कि भगवान् राम को परशुराम समझ नहीं पाते। और मैं तो कहता हूँ कि यदि लक्ष्मण जी न होते, तो शायद कभी भी नहीं समझ पाते। यहाँ लक्ष्मणजी की भूमिका आचार्य

के रूप में आती है। हम पढ़ते हैं कि परशुराम धनुष टूटने के बाद आते हैं। उनके आने पर प्रत्येक राजा उनके चरणों में प्रणाम करता है। महाराज जनक के आदेश पर सीताजी भी उनके चरणों में प्रणाम करती हैं। फिर परशुराम और विश्वामित्र का मिलन होता है। तत्पश्चात् भगवान् राम और श्री लक्ष्मण भी परशुराम के चरणों में प्रणाम करते हैं। बस, यही भूमिका थी। परशुराम प्रसन्न होते हैं कि इतने लोगों ने मुझे प्रणाम किया। उन्हें लगता है कि यदि मैं बड़ा न होता, तो लोग मुझे प्रणाम क्यों करते ? पर उनकी यह कसौटी ठीक नहीं। याद रखें, जहाँ बड़प्पन दूसरे के प्रमाण-पत्र पर आश्रित है, वहाँ प्रमाण-पत्र देनेवाला बड़ा है, लेनेवाला नहीं; क्योंकि आखिर प्रमाण-पत्र तो अधिक योग्यतावाला व्यक्ति ही देता है। अतएव जो योग्यता का प्रमाण-पत्र दूसरों से लिया करते हैं, वे अधूरे हैं। जो यह मानकर चलता है कि जिसे सब प्रणाम करते हों वह बड़ा है, ऐसा व्यक्ति यदि हजार प्रणाम करने वाले लोगों में ऐसे दस लोगों को देख ले जो प्रणाम नहीं करते, तो उसे अपनी अपूर्णता का बोध होने लगेगा। बेचारे दक्ष प्रजापति को इसी समस्या का सामना करना पड़ा था। जब वह प्रजापति चुना जाने के बाद ब्रह्मा की सभा में गया, तो सब लोग उठकर खड़े हो गये। पर उसका दुर्भाग्य यह था कि उसने यह नहीं देखा कि कितने लोग मुझे देखकर खड़े हो गये, वह बड़े ध्यान से चारों ओर देखने लगा कि कहीं कोई बैठा तो नहीं रह गया है। सो एक सज्जन उसे बैठे दिख गये। वे थे शंकरजी ! और बस, दक्ष तिलमिला उठता है। यह जीवन का व्यंग्य है। हम मान-अपमान के कितने पराधीन हो जाते हैं। कोई जान में या अनजान में हमारा अनादर कर दे, तो हम अपना सन्तुलन खो बैठते हैं। हम अपने बड़प्पन के लिए, अपने सुख के लिए पराधीन हो जाते हैं। दूसरे कहें तो हम बड़े, दूसरे प्रणाम करें तो हम बड़े ! बस, यही समस्या परशुरामजी की भी है। वे देखते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति ने उन्हें प्रणाम किया और वे प्रसन्न हो उठते हैं कि मैं कितना बड़ा हूँ। पर श्री राम के रूप में जो ईश्वर खड़े हैं, उनकी क्या धारणा है ? श्री राम अपना बड़प्पन इसमें नहीं मानते कि सब उन्हें प्रणाम करते हैं, बल्कि इसमें कि वे सबको प्रणाम कर सकते हैं। जो सबको अपने प्रति प्रणाम करा सकता है, वह बड़ा नहीं है, बल्कि जो सबके सामने झुक सकता है, वह बड़ा है। इसका अभिप्राय यह है कि जिसमें सच्चे अर्थों में बड़प्पन है, उसे यह डर नहीं कि झुकेंगे तो कहीं बड़प्पन न गिर जाय। जो सिर पर कोई वस्तु लादे रहेगा, वह भले ही डरे कि मैं झुकूँगा तो वस्तु नीचे गिर जायगी, पर जिसके सिर पर कोई बोझ नहीं है, वह फिर कहीं भी झुके, उसका क्या खोना-जाना ? ! तो, श्री राम परशुराम के चरणों में गिरते हैं। बड़प्पन की दो परिभाषाएँ हो गयी। इसके पश्चात् वार्तालाप प्रारम्भ होता है।

परशुरामजी ने जब श्री राम और श्री लक्ष्मण को देखा, तो सहज ही दोनों की जोड़ी उन्हें बड़ी प्रिय लगी। गोस्वामीजी ने बड़ी सार्थक बात कही। श्री राम और श्री भरत का व्यक्तित्व बिलकुल एक-जैसा है, पर श्री लक्ष्मण का उस प्रकार का नहीं है। श्री राम में जैसी सुकुमारता है, वैसी ही सुकुमारता श्री भरत में भी है। भगवान् राम जैसे शीलवान् हैं, श्री भरत भी वैसे ही शीलवान् हैं। पर लक्ष्मणजी का व्यक्तित्व बिलकुल भिन्न प्रकार का है। किसी ने गोस्वामीजी से पूछा—भगवान् राम, श्री सीताजी तथा श्री लक्ष्मण को देखकर आपको क्या लगता है ? तो गोस्वामीजी 'गीतावली रामायण' में वन्दना करते हुए कहते हैं—

रामचन्द्र कर कंज कामतरु बामदेव हितकारी। ७।१४

—'भगवान् राम की भुजा मानो कल्पतरु है।' और सीताजी क्या हैं ?—

सिय सनेह बर बेलि बलित तरु

—जैसे किसी सुन्दर वृक्ष पर लता लिपट जाय, तो लता और वृक्ष के मिलन से एक अपूर्व शोभा का निर्माण हो जाता है, उसी प्रकार श्री राम तो मानो कल्पतरु हैं और सीताजी वह कृपामयी, करुणामयी लता हैं। और लक्ष्मणजी क्या हैं ?—

प्रेम बन्धु बर बारी।

—वे इस कल्पतरु और लता के चारों ओर रक्षा करने वाली बाड़ के समान हैं।

रामचन्द्र कर कंज कामतरु बामदेव हितकारी।
सिय सनेह बर बेलि बलित तरु,
प्रेम बन्धु बर बारी॥ ७।१४

और बाड़ यदि थोड़ी कटीली हो, तो वह प्रशंसा के योग्य ही होती है, निन्दा के नहीं। बाड़ का कटीला होना ही उसकी शोभा है। तो, लक्ष्मणजी की भुजा बाड़ बनकर श्री राम और श्री सीता की रक्षा के लिए सर्वदा सन्नद्ध है। इसलिए श्री राम और श्री भरत की जोड़ी अधिक अच्छी नहीं है, बल्कि दोनों बड़े अच्छे हैं—अलग अलग दोनों बड़े महान् हैं। पर दोनों यदि एक साथ खड़े हो जायँ, तो उतना आनन्द नहीं आएगा। दो कुएँ एक साथ आस-पास खोदकर रख दिये जायँ, तो क्या लाभ होगा ? पर एक कुआँ खोद लिया जाय और एक वृक्ष लगा दिया जाय, तो भले ही दोनों उल्टी दिशाओं में जा रहे हों—कुआँ नीचे की ओर और वृक्ष ऊपर की ओर दोनों सुख प्रदान करते हैं। कुएँ का जल व्यक्ति की प्यास बुझाएगा और वृक्ष की छाया उसे विश्राम देगी। गोस्वामीजी कहते हैं कि श्री राम और श्री लक्ष्मण की जोड़ी

इसी प्रकार की है । परशुराम ने जब पहली बार उन दोनों को देखा, तो उन पर भी ऐसा ही प्रभाव पड़ा—

रामु लखनु दसरथ के ढोटा।
दीन्हि असीस देखि भल जोटा ॥ १।२६।८।७

सुन्दर जोड़ी देखकर वे कह उठते हैं कि दोनों भाई बड़े सुन्दर प्रतीत हो रहे हैं । दोनों की जोड़ी बड़ी आकर्षक लग रही है । एक श्याम है तो दूसरा गौर । रात्रि और दिन दोनों कितने अच्छे लगते हैं । रात काली होती है और दिन उज्ज्वल, लेकिन दोनों हमें आनन्द देते हैं । दिन में हम कर्म करते हैं और रात्रि के अन्धकार में विश्राम करते हैं । दोनों की जोड़ी मिलकर व्यक्ति को कर्म और विश्राम की प्रेरणा देती है । कर्म और विश्राम की प्रेरणा देनेवाला यह दिन और रात्रि का संयोग जैसे हमारे लिए सुखद है, वैसे ही श्री लक्ष्मण और श्री राम वस्तुतः एक दूसरे के पूरक हैं—दोनों का व्यक्तित्व एक दूसरे के बिना अधूरा है ।

तो, जब परशुराम ने श्री राम और श्री लक्ष्मण को पहली बार देखा, तो उन्हें जो सहज अनुभूति हुई, वह इसी आनन्द की अनुभूति थी । यदि उन्होंने हृदय की इस सहज प्रेरणा को स्वीकार किया होता, तो शायद समस्या न आती । वे समझ जाते कि दोनों के शरीर का रंग-भेद वस्तुतः उनके अन्तःकरण के भेद का परिचायक नहीं, बल्कि दोनों का अन्तःकरण तो वास्तव में सर्वथा एकाकार है । पर परशुराम की समस्या यह थी कि वे अन्तःकरण की सहज प्रेरणा को छोड़- कर बुद्धि और तर्क पर उतर आये । अन्तःकरण की प्रेरणा सामान्यत. ईश्वर की प्रेरणा होती है । समस्या तब उत्पन्न होती है, जब हम अपनी आँख पर विश्वास करके बुद्धि और तर्क से प्रभावित हो उसके आधार पर किसी वस्तु को श्रेष्ठ मान लेते हैं । जब परशुराम ने श्री राम को देखा, तो गोस्वामीजी कहते हैं—

रामहि चितइ रहे थकि लोचन । १।२६।८।८

पहले तो परशुराम ने दोनों को देखा और फिर जब श्री राम की ओर उनकी दृष्टि गयी, तो उनके नेत्र थक गये । गोस्वामीजी का शब्द-विन्यास बड़ा सार्थक है । उनके इस कथन का अभिप्राय क्या है ? जैसे कोई थका हुआ व्यक्ति रुक जाता है, उसी तरह जब नेत्र भी थक जाते हैं, तो वे रुक जाते हैं, यानी स्थिर होकर, एकटक देखने लगते हैं । गोस्वामीजी आँखों का एकटक देखना और थक जाना, इन दोनों का प्रयोग करते हैं । कहीं तो वे कहते हैं कि नेत्र एकटक देख रहे हैं और कहीं कहते हैं कि नेत्र थक गये । पर एकटक देखने की अपेक्षा थक जाने में गोस्वामीजी का संकेत और होता है । वह क्या ? थक जाने का मनोविज्ञान क्या होता है ? थक जाने के बाद

क्या करना चाहिए ? जैसे व्यक्ति कहीं पर पहुँचना चाहता हो और मार्ग में उत्साहपूर्वक बढ़ता चला जा रहा हो, तो लक्ष्य पर पहुँचने की आतुरता में भले ही उसे थकान का ज्ञान नहीं होता, किन्तु ज्योंही वह अपने स्थान पर पहुँचता है त्योंही बैठ जाता है, लेट जाता है, कहता है कि अब तो कहीं जाना नहीं है, अब तो विश्राम की आवश्यकता है, उसी प्रकार हमारे ये नेत्र निरन्तर चल रहे हैं और जब वे अपने लक्ष्य को पा लेंगे, तो उन्हें भी विश्राम की आवश्यकता होगी। नेत्र की चंचलता का कारण शरीर-विज्ञानी भले ही कुछ दूसरा बताए, पर भक्त तो हर वस्तु का अर्थ भिन्न रूप से लेता है। वह कहता है कि नेत्र चंचल इसलिए हैं कि वे सतत ईश्वर की खोज में लगे हुए हैं, इसीलिए वे चल रहे हैं, खोज रहे हैं। और जिस दिन ईश्वर सामने आ जाते हैं, उस दिन नेत्र कहते हैं कि बस, अब तो हम लक्ष्य पर पहुँच गये अब हम थक गये, अब हमें विश्राम करना चाहिए। गोस्वामीजी 'पुष्पवाटिका' के प्रसंग में इसी का संकेत करते हैं। जिस समय वहाँ सीताजी ने श्री राम को देखा, उस समय का वर्णन करते हुए गोस्वामीजी लिखते हैं—

चितवत चकित चहूँ दिसि सीता।
कहँ गये नृप किसोर मनु चिंता॥
जहँ बिलोक मृग सावक नैनी।
जनु तहँ बरिस कमल सित श्रेनी।
लता ओट तब सखिन्ह लखाए॥
स्यामल गौर किसोर सुहाए।
देखि रूप लोचन ललचाने॥
हरषे जनु निज निधि पहिचाने ।१।२३१।१-४

गोस्वामीजी आगे लिखते हैं--

थके नयन रघुपति छबि देखें।

पहले नेत्र श्री राम की खोज में लगे हुए थे और जब वे मिल गये, तो उन्हें देखकर नेत्र थक गये। तदनन्तर थकने के बाद जो किया जाना चाहिए था, वही श्री सीताजी ने किया। गोस्वामी जी इसके माध्यम से साधना का भी संकेत देते हैं। उनका तात्पर्य यह है कि जो थकने के बाद भी नहीं सोएगा, वह अभागा है, वह कष्ट पाएगा। चलने के बाद जब गन्तव्य आ गया, तो नेत्र मूँद लीजिए। वे तभी तक चंचल रहें, जब तक गन्तव्य मिला नहीं है, और जब वह मिल गया, तब चंचलता कैसी ? इसीलिए गोस्वामी जी लिखते हैं –

थके नयन रघुपति छबि देखे।
पलकन्हिहूँ परिहरीं निमेषे ॥१।२३१।५

और थकने के बाद अगला कार्य हुआ —

लोचन मग रामहि उर आनी ।
दीन्हें पलक कपाट सयानी ॥१।२३१।७

—किवाड़ बन्द कर दिये गये । अब विश्राम की बेला आ गयी । अब कर्म की अपेक्षा नहीं रह गयी । देखने के लिए अब कोई वस्तु शेष नहीं रह गयी । इस प्रकार श्री सीताजी के बन्द नेत्र उनके थकने की प्रक्रिया को प्रकट करते हैं । परशुरामजी के भी नेत्र थक गये । यदि थकान के बाद परशुराम नेत्र मूँद लेते, तो समस्या विकराल नहीं हो पाती । लक्ष्मणजी आगे चलकर उन्हें यही सलाह देते हैं । जब परशुराम रुष्ट होकर कहते हैं कि—

बेगि करहु इन आँखिन्ह ओटा । १।२७६।७

—यह बालक तो बड़ा ढीठ है, इसे सभा से निकाल बाहर करो, इसे मेरी आँखों के सामने से दूर कर दो, तो भला किसमें साहस है कि लक्ष्मणजी को सभा से बाहर निकाले ? और लक्ष्मणजी को तो हँसी आ जाती है । वे चुटकी लेकर उत्तर में तुरन्त कहते हैं—

मूदें आँखि कतहुँ कोउ नाही । १।२७६।८

—मुझे आंखों से दूर करने के लिये दूसरे को क्यों बुलाते हैं, उपाय तो आपके ही पास है जरा नेत्र मूँद लीजिये तो देखिए कि लक्ष्मण अपने आप गायब हो जाता है या नहीं । तात्पर्य यह है कि जो उपाय व्यक्ति के पास होता है, उसका उपयोग नहीं करने से वह पराधीन ही हो जाता है । फिर लक्ष्मणजी का संकेत यह भी था कि यदि परशुराम ने अपने नेत्र मूँद लिये होते, तो उन्होंने सत्य को बहुत कुछ जान लिया होता, अन्तःप्रेरणा के द्वारा समझ लिया होता कि सामने कौन खड़े हैं । पर कठिनाई यह है कि परशुरामजी नेत्रों के थकने के बाद भी उन्हें नहीं मूँदते, वे नहीं समझ पाते कि ईश्वर की उपलब्धि के बाद अब कुछ भी नेत्रों से देखने योग्य बाकी नहीं रह गया है । वे श्री राम को थकित नेत्रों से देखते तो हैं, पर उन्हें अचानक ध्यान आ जाता है कि अरे ! मैं तो दूसरे काम से आया था, मैं तो धनुष तोड़नेवाले व्यक्ति को दण्ड देने के लिए आया था, जरा पता तो लगा लें कि किसने धनुष तोड़ा है ? —

बहुरि बिलोकि बिदेह सन कहहु काह अति भीर ।
पूँछत जानि अजान जिमि ब्यापेउ कोपु सरीर ॥ १।२६९

—वे क्रोध में काँप रहे हैं, उनकी सारी शान्ति समाप्त हो जाती है, वे गरज-कर जनक से पूछते हैं कि यह भीड़ क्यों लगी हुई है, मानो इतने अन्जान बन गये हैं कि उन्हें कुछ मालूम नहीं। जनकजी डरते डरते अपनी प्रतिज्ञा की बात बतलाते हैं। तब आवेश में आकर परशुरामजी ललकारते हुए कहते हैं— जिस व्यक्ति ने धनुष तोड़ा हो वह हमारे सामने आ जाय, अन्यथा—

न त मारे जैहहिं सब राजा ।१।२७०।५

—मैं सभी राजाओं को समाप्त कर दूँगा। इस कथन से परशुराम के व्यक्तित्व का एक दुर्बल पक्ष सामने आता है। वे दण्ड देना तो जानते हैं, पर उनका नियम है कि एक व्यक्ति को दण्ड देने के लिए सबको समाप्त कर दिया जाय—यदि एक क्षत्रिय ने अपराध किया है, तो सारी क्षत्रिय जाति को ही समाप्त कर दो। जनक की समस्या यह है कि यदि वे धनुष तोड़ने वाले का नाम बता दें, तो परशुराम का फरसा तुरन्त चलेगा और वे श्री राम को दण्ड देंगे, क्योंकि श्री राम तो ठीक परशुराम के सामने ही खड़े थे। अत: डर के मारे वे कुछ बोलते नहीं—

अति डरु उतरु देत नृपु नाहीं। १।२६९।५

जब श्री राम ने देखा कि सभी भयभीत हैं, तो वे प्रणाम करके परशुरामजी से कहते हैं—

नाथ संभु धनु भंजनिहारा ॥
होइहि केउ एक दास तुम्हारा ॥
आयसु काह कहिअ किन मोही ।
सुनि रिसाइ बोले मुनि कोही ॥१।२७०।१-२

— 'हे नाथ, शिवजी के धनुष को तोड़ने वाला आपका कोई एक दास ही होगा। क्या आज्ञा है, मुझसे क्यों नहीं कहते ?' परशुराम इस वाक्य को सुनकर यह नहीं समझ पाते कि यह उत्तर देने वाला राजकुमार ही धनुष का तोड़ने वाला है, क्योंकि श्री राम को देखकर वे यह कल्पना भी नहीं कर सकते थे कि धनुष तोड़ने वाले व्यक्ति का ऐसा स्वरूप हो सकता है। वे जब जनक की स्वयंवर-सभा में आये, तो उनके मन में धनुष तोड़ने वाले के सम्बन्ध में दो ही कल्पनाएँ थीं—एक तो यह कि वह गर्व से फूलकर, सीना तानकर सारी सभा में खड़ा होगा और दूसरी यह है कि जब वह मेरे आगमन का समाचार सुनेगा, तो थर थर काँपने लगेगा। जब वे सभा में आये, तो उन्हें ऐसा कोई व्यक्ति दिखायी नहीं दिया, जो सीना तानकर खड़ा हो ।

उन्होंने सोचा कि सम्भव है, मेरे आने से पहले तक वह सीना तानकर खड़ा रहा होगा और अब मेरे आगमन का समाचार सुन डर के मारे काँप रहा होगा। यह सोच जब उन्होंने चारों ओर दृष्टि घुमायी, तो काँपनेवालों की संख्या इतनी अधिक देखी कि निर्णय करना उनके लिए कठिन हो गया, क्योंकि सभी काँपते दिखायी दे रहे थे। और इधर धनुषभंग करने वाले श्री राम न तो अकड़े हुए खड़े थे और न किसी प्रकार आतंकित थे, वे तो शान्त भाव से खड़े थे—

हृदयँ न हरषु बिषादु कछु बोले श्रीरघुबीरु। १।२७०

यही कारण था कि परशुराम यह समझ न पाये कि श्री राम ने धनुष तोड़ा है। वे श्री राम की भाषा नहीं समझ पाये और इसलिए लक्ष्मणजी दुभाषिये के रूप में सामने आये। उनकी विशेषता यह है कि वे भगवान् राम की भी भाषा जानते हैं और परशुराम की भी।

कोई पूछ सकता है कि भगवान् राम न परशुराम के प्रश्न का सीधा उत्तर क्यों नहीं दिया कि महाराज, धनुष मैंने तोड़ा है; इतना घुमावदार उत्तर देने की क्या आवश्यकता थी कि शंकरजी का धनुष तोड़ने वाला आपका कोई एक दास रहा होगा? वास्तव में, श्री राम ने अपनी समझ में कोई घुमावदार वाक्य नहीं कहा था, उन्होंने तो जीवन का सत्य कह दिया था। उन्होंने अपने कथन के माध्यम से ऐसे दर्शन को प्रकट किया, जिसे अपने जीवन में स्वीकार कर कोई भी व्यक्ति धन्य हो सकता है। परशुरामजी ने पूछा था कि धनुष किसने तोड़ा? और श्री राम के के उत्तर का तात्पर्य यह था कि जब धनुष था, तब भले ही उसके तोड़नेवाले की आवश्यकता रही होगी पर अब जब वह टूट चुका है, तब उसके तोड़नेवाले की क्या आवश्यकता है? धनुष के टूटने के बाद भी यदि तोड़नेवाला बना रहेगा, तब तो संघर्ष होगा। यही श्री राम का दर्शन है। हमारी, समाज की, तथा जीवन की समस्या यही है कि किसी भी अच्छी क्रिया के बाद करने वाला अपने आपको बचा लेता है, और यही संघर्ष की जड़ है। होना तो यह चाहिए कि क्रिया जबतक रहे, तभी तक व्यक्ति उसके कर्तृव्य को स्वीकारे। 'गीता' में, तथा 'रामचरितमानस' में यह जो कहा गया है कि तात्त्विक दृष्टि से जीव कर्त्ता नहीं है, उसका क्या तात्पर्य? व्यवहार में तो व्यक्ति कर्म करेगा ही—वह कहेगा ही कि मैं गया, मैंने खाया, मैंने पिया। तो क्या ऐसी भाषा के उपयोग से 'गीता' या 'मानस का उपर्युक्त दर्शन खण्डित हो जायगा? कुछ लोग 'मैं' का उपयोग करने के बदले यों कहते हैं—

—रामजी ने खाया, रामजी ने पिया। तो क्या केवल भाषा के ऐसे अन्तर से कोई

वास्तविक अन्तर पड़ता है ? यदि आपको अपनी हर क्रिया के सन्दर्भ में ऐसी अनुभूति हो रही है कि आप नहीं बल्कि रामजी कर रहे हैं, तब तो कोई बात नहीं, पर यदि अन्तःकरण में अपने कर्त्तापन की अनुभूति बनी हुई हो, तो केवल शब्द में 'रामजी रामजी' कहना कोई मानी नहीं रखता । व्यवहार में 'मैं' शब्द का प्रयोग कोई बड़ी समस्या की बात नहीं है, यदि अन्तःकरण में वह विलक्षणता है, जो भगवान् राम के चरित्र में है और वह व्यक्ति जिस समय जो कार्य करे, उसी समय तक के लिए अपने आपको उसका कर्त्ता मानें । उदाहरणार्थ, मान लीजिए आपको भाषण देने के लिए कहा गया, तो जिस समय तक के लिए भाषण देना है उतने समय तक के लिए ही जो वक्ता रहेगा, वह व्यक्ति तो सुखी रहेगा, पर भाषण देने के बाद भी जो वक्ता बना रह जायगा, वह अपने लिए समस्या खड़ी कर लेगा । कई वार वक्ता से यही भूल हो जाती है । मान लीजिए आप कथा सुनने बैठे हैं । आपको यदि ध्यान रह गया कि आप बहुत बडे वक्ता हैं तो आप कथा सुन ही नहीं सकते । यह सम्भव नहीं कि वक्ता कथा सुनने का काम करे । वक्ता का काम है बोलना, और जो सुनते समय भी बोलेगा, वह कथा क्या सुन पाएगा ? बोलने का अर्थ यह नहीं कि वह वाणी से ही बोलेगा, वह मन से भी बोल सकता है; क्योंकि वक्ता बिना बोले कैसे रह सकेगा ? जो बोलेगा नहीं वह वक्ता कैसे कहलाएगा ? तो, जो वक्ता सुनने के लिए बैठता है, वह पूरी देर स्वंय बोलता रहता है— वह ढूँढ़ता रहता है कि बोलने वाले की भाषा में कहाँ अशुद्धि हो गयी, भाव कहाँ पर गलत हो गया। एक वक्ता ने एक सज्जन का भाषण सुनने के बाद मुझे बताया कि आज मैं एक वक्ता का भाषण सुनने गया था, उसने २७ बार अशुद्ध वाक्यों का प्रयोग किया ! इससे समझ में आ गया कि श्रोता नहीं सुन रहा था, वह तो वक्ता सुन रहा था । तो जब वक्ता सुनेगा, तो ऐसी टकराहट हो ही जायगी । इसीलिए वक्ता को चाहिए कि वह तभी तक वक्ता रहे, जब तक वह भाषण दे रहा हो । यही बात प्रत्येक क्षेत्र में हैं। एक न्याधीश जब तक न्यायालय में हैं । तभी तक वह न्यायाधीश रहे और जब न्याय का कार्य करने के पश्चात् वह न्यायालय से बाहर निकले, तब न्यायाधीश पद छोड़कर घर आए, तभी ठीक रहेगा। यदि वह घर में पत्नी और बच्चे से भी न्यायाधीश बनकर व्यवहार करे, तो घर में झगड़ा हुए बिना नहीं रह सकता। व्यक्ति की समस्या यह है कि जिस कार्य को वह बढ़िया मानता है, उसे ओढ़े रहता है । पदाधिकारी हर समय अपने को पदाधिकारी मानेगा । वक्ता हर समय अपने को वक्ता मानेगा, धनिक हर समय धनिक मानेगा । व्यक्ति जब अपने आपको हर समय अपने अहं में, अपने कर्तृत्व में

स्थित कर देता है, तो अनर्थ होता है। इसी लिए भगवान् राम की बात बड़ी सार्थक है। वे परशुराम से कहते हैं कि जब तक धनुष था, तब तक उसके तोड़ने वाले की आवश्यकता थी, पर अब जब वह टूट गया तो भूमिका समाप्त हो गयी। इस समय तो आप जैसा महापुरुष यहाँ आया हुआ है, और यह एक दास आपके सामने खड़ा है। यही श्री राम की विशेषता है। वे जिस समय जो काम करते हैं, उस समय वही बन जाते हैं। इसलिए उनके व्यक्तित्व में कोई टकराहट नहीं, उन्हें कोई कार्य करने में संकोच नहीं। जब उन्हें पुष्पवाटिका में फूल लेने जाना है, तो वे गुरु से आज्ञा लेकर जाते हैं—

समय जानि गुर आयसु पाई ।
लेन प्रसून चले दोउ भाई ॥ १।२२६।२

और जब वे पुष्पवाटिका में पहुँचते हैं, तब माली से आज्ञा लेकर फूल चुनते हैं –

चहुँ दिसि चितइ पूँछि मालीगन । १।२२७।१

यही उनके व्यक्तित्व की पूर्णता है। यदि भगवान् राम गुरु से आज्ञा लें, तो कोई आश्चर्य नहीं; लोग कह सकते हैं कि शिष्य को गुरु से आज्ञा लेनी ही चाहिए। पर आश्चर्य तब होता है, जब वे माली से आज्ञा लेते हैं। माली न तो उनसे जाति में बड़ा है, न पद में, न धन में और न योग्यता में। तात्त्विक दृष्टि से देखें तो श्री राम साक्षात् ईश्वर हैं और माली जीव। सामान्य दृष्टि से देखें तो श्री राम महाराज जनक के अतिथि हैं, राजभवन में ठहरे हुए हैं और वह रहा साधारण माली। और इस माली से भगवान् राम जाकर पूछते हैं कि क्या मैं इस बाग का फूल ले सकता हूँ ? मुझे गुरुदेव के पूजन के लिए फूल लेना है यदि अनुमति हो तो ले लूँ। इसका तात्पर्य क्या है ?' जब वे विश्वामित्र से आज्ञा लेते हैं, तब उनके ध्यान में यह बात थी कि ये मेरे गुरु हैं और मैं इनका शिष्य। और जब वे माली के पास अनुमति लेते हैं, तो यह सोचते हैं कि मैं फूल चाहनेवाला हूँ और यह फूल का रक्षक है, अतः इस समय तो उसी की आज्ञा चलेगी। जिस क्षण जो कार्य सामने आता है, भगवान् राम उस क्षण उसी के अनुरूप बन जाते हैं। जब रात्रि को गुरुदेव शयन करते हैं, तो श्री राम ईश्वर नहीं रह जाते। तब वे उस समय क्या करते हैं ? गोस्वामीजी लिखते हैं—

जिन्ह के चरन सरोरुह लागी ।
करत विविध जप जोग बिरागी ॥
तेइ दोउ बंधु प्रेमजनु जीते ।
गुरु पद कमल पलोटत प्रीते ॥ १।२२५। ४-५

—बड़े प्रेम से दोनों भाई विश्वामित्र के चरण दबाने लगते हैं। विश्वामित्रजी को बडा संकोच होता है। वे तो श्री राम के ईश्वरत्व को जानते हैं। इन्हें ईश्वर समझकर ही

वे राजा दशरथ से माँग लाये हैं । तो, इनसे चरणसेवा लेते हुए विश्वामित्र को लगता है कि मैं कितना बड़ा अनर्थ कर रहा हूँ । वे मन ही मन विचार करते हैं कि क्या अपने पैर दबवाने हेतु मैं ईश्वर को लाया हूँ ? पर भगवान् राम को कोई संकोच नहीं होता । वे गुरुदेव की ओर देखकर मानो कहना चाहते हैं कि गुरुदेव, नाटक में तो अपनी भूमिका का ठीक ही निर्वाह होना चाहिए, उस समय ईश्वरत्व और ऋषित्व सामने नहीं आना चाहिए । फिर यह तो खेल है, और खेल में कोई छोटा-बड़ा नहीं होता । जो खेल में हारे, उसे दाब देना चाहिए । हम कथा में भी तो पढ़ते हैं कि जब भगवान् कृष्ण खेल में हार गये और दाँव देने से कतराने लगे, तो श्री दामा ने उन्हें फटकार दिया—

खेलन में को काको गुसैयाँ ?
अति अधिकार जनावत याते
अधिक तुम्हारे हैं कछु गैयाँ ॥

—खेलने में कोई बड़ा-छोटा थोड़े ही होता है ? तुम नन्द बाबा के बेटे हो इसलिए दाँव न दो और हम साधारण आदमी हैं इसलिए दाँव देने के लिए बाध्य हों—यह भी कोई बात है ? जो हारेगा, उसे दाँव देना ही होगा । तो, ऐसा ही भगवान् राम भी मानो धीरे से गुरुदेव को बता देना चाहते हैं कि गुरुदेव, आप संकोच क्यों कर रहे हैं ? हम तो यह दाँव चुका रहे हैं अपने हारने का । हम तो आपके द्वारा जीते हुए हैं—'तेइ दोउ बंधु प्रेम जनु जीते ।' देखिए, मैं तो राक्षसों का वध करने के लिए, मुनियों का भय दूर करने के लिए अवतार लेकर आया था, पर मैं पिछड़ गया । आप स्वयं चलकर अयोध्या तक गये और मुझे माँग लाये । आपके चरणों को बड़ा कष्ट उठाना पड़ा, इसलिए मैं तो हारा हुआ हूँ । और आज यदि मैं आपकी चरणसेवा के द्वारा आपका दाँव दे रहा हूँ, तो यह उचित ही है ।

तो, भगवान् राम अपनी हर भूमिका ठीक ठीक निभाते हैं । आज जब परशुराम उनसे पूछते हैं कि धनुष किसने तोड़ा, तो वे कहते हैं कि धनुष तोड़ने वाली तो अतीत की बात हो गयी, आप आज्ञा दीजिए । परशुराम नहीं समझ पाते । वे श्री राम से पूछते हैं—अच्छा बताओ, धनुष तोड़नेवाला कौन है ? तुम बड़े नम्र जान पड़ते हो । जिसने धनुष तोड़ा होगा, वह मेरा शत्रु है और उसे मैं सहस्रार्जुन के समान दण्ड दूँगा । प्रभु मुसकराकर चुप रह जाते हैं । वे समझ जाते हैं कि अब मेरी नहीं, लक्ष्मण की भूमिका आ गयी । और लक्ष्मण भी प्रभु का संकेत समझकर परशुराम के प्रश्न का स्पष्ट शब्दों में उत्तर देने के लिए प्रवृत्त होते हैं, जिससे मुनि अन्ततोगत्वा श्री राम के स्वरूप का परिचय पाकर अपनी अपूर्णता को दूर कर सकें ।

—

द्वितीय व्याख्यान

पिछली चर्चा में इस बात की ओर संकेत किया गया कि श्री लक्ष्मण आदि-दैविक अर्थों में सहस्रशीर्ष शेष हैं और आध्यात्मिक अर्थों में मूर्तिमान काल । इसके साथ ही साथ इस बात की ओर ध्यान आकृष्ट किया गया कि भगवान् श्री राम की लीला में श्री लक्ष्मण की अपनी विशिष्ट भूमिका है । 'रामचरितमानस' की यह मान्यता है कि श्री राम लीला करते हैं और लीला का तात्पर्य होता है नाटक । रंग-मंच पर जब योजनापूर्वक कोई नाटक प्रदर्शित किया जाता है, तो उसे हम लीला कहते हैं । और नाटयमंच पर एक अभिनेता को उसकी योग्यता के अनुरूप ही भूमिका दी जाती है । इसी प्रकार भगवान् श्री राम की इस लीला में श्री लक्ष्मण को अपने स्वरूप के अनुरूप भूमिका का निर्वाह करना पड़ता है ।

हमारी काल सम्बन्धी धारणा क्या है ? व्यक्ति तो देश में स्थित है, पर देश की अवस्थिति किसमें हैं ? यह जो आकाश दिखायी देता है, ग्रह-नक्षत्र दिखायी देते हैं, ये सब किस आधार पर टिके हुए हैं ? यह पृथ्वी कहाँ टिकी, हुई है ? इसका उत्तर विज्ञान अपनी भाषा में देता है और पुराण अपनी भाषा में । आध्यात्मिक भाषा में उसे हम कालतत्व कहते हैं, जिसमें यह देश स्थित है । विज्ञान की दृष्टि से आप चाहे उसे गुरुत्वाकर्षण कह लें, या पुराण की भाषा में कह लें कि पृथ्वी सहस्रशीर्ष शेष के सिर पर टिकी है, मूल तात्पर्य एक ही होता है । सर्प को प्राचीन काल से काल का रूप माना जाता रहा है । 'रामचरितमानस' में भी उसका इसी रूप में वर्णन किया गया है—**'कालव्यालकरालभूषणधरं गंगाशशांकप्रियम्'** (६।श्लोक १) अथवा **'कालब्याल कर भच्छक जोई'** (६।५५।८) । यों तो साधारण सर्प भी काल का ही प्रतीक है, पर यह सर्प तो हजार सिरवाला है । इसका तार्त्पय क्या ? एक चतुर मदारी जानता है कि सर्प के प्रहार की क्षमता उसके मुख में होती है, इसलिये वह चतुराई से सर्प की गर्दन दबा देता है । फलस्वरुप साँप विवश हो जाता है अब एक सिर वाला सांप हो, तो उसका सिर दबा भी दीजिए, पर जिसके हजार सिर हों उसका कौन कौन सा गला मनुष्य पकड़ेगा ? अभिप्राय यह है कि काल के मार्ग को रोकने की मनुष्य चाहे जितनी चेष्टा क्यों न करे, वह सफल काम नहीं हो सकता, क्योंकि उसके तो हजार सिर हैं ।मनुष्य किसी भी उपाय से काल के मार्ग को अवरुद्ध नहीं कर सकता, काल को अपनी मुट्ठी में नहीं पकड़ सकता । व्यक्ति अपनी

सफलता के क्षणों में भले ही ऐसा सोचने लगे कि मैंने काल को पकड़ लिया है, पर वह उसका मिथ्या भ्रम ही है। श्री लक्ष्मण इसी भ्रम के प्रति जीव को सचेत करते हैं। हमें उनकी भूमिका में कुछ कठोरता भी दिखायी दे सकती है, पर यह कठोरता भी जीव के कल्याण के ही लिए है। श्री लक्ष्मण की मुख्य भूमिका है ईश्वर का परिचय देना। यों भी हम देखें तो कह सकते हैं कि ईश्वर का सच्चा परिचय देने वाला तो काल ही है। ईश्वर तो हमारे समक्ष प्रत्यक्ष है नहीं, तब फिर व्यक्ति को ईश्वर की सत्ता की अनुभूति कैसे होती है ? काल के रूप में। व्यक्ति जब युवा होता है, तब उसकी क्षमताएँ बहुत अधिक होती हैं। जब वह सफल होता है, उस समय उसे जान पड़ता है कि यह सब मेरी ही विशेषता है। ऐसे समय वह काल और शक्ति के गणित को भुला देता है तब भला उसे ईश्वर की स्मृति आने का प्रश्न ही कहाँ ? उसे तो यही लगता है कि सारी सफलता के मूल में उसकी अपनी बुद्धि है, अपने सत्कर्म हैं, अपनी व्यक्तिगत विशेषताएँ हैं। लेकिन यह काल बड़ा विलक्षण है। वह निरन्तर गतिशील है। जब भी व्यक्ति ईश्वर को भूलने लगता है, यह काल बड़ी तेजी से उसे झकझोरकर वास्तविकता की ओर उसकी दृष्टि आकर्षित करता है। यौवन में व्यक्ति का शरीर बड़ा सबल होता है और उसे लगता है कि यह सबलता मेरी है। पर जब समय पाकर उसका शरीर कृश होता है, क्षमताएँ समाप्त होने लगती हैं, बुद्धि की स्मृति-शक्ति शिथिल हो जाती है, तब काल मानो उससे पूछता है कि कहो, यदि सबलता तुम्हारी थी, तो वह गयी कहाँ ? तब काल कड़ुवा लगता है तभी तो लक्ष्मणजी कड़ुवे लगते हैं, क्योंकि उनका स्वभाव, उनकी प्रकृति ही कालरूप है। और काल ऐसा सत्य है, जिसे हम देखना नहीं चाहते। व्यक्ति भविष्य के प्रति अपनी आँखें बन्द कर लेना चाहता है। उसे काल का चिन्तन अच्छा नहीं लगता। जैसे कोई व्यक्ति सुरा पीकर थोड़ी देर के लिए अपने को सचाई से अलग कर लेता है, उसी प्रकार मोह की मदिरा का पान कर संसार काल के सत्य को भुला देना चाहता है--'पीत्वा मोहमयीं प्रमाद मदिरां मत्तं समस्तं जगत्'। पर काल के सत्य को भुलाने की चेष्टा करने से क्या काल अपना काम करना बन्द कर देगा ? वह तो अपनी अवस्थिति का बोध किसी न किसी प्रकार कराएगा ही। इसका एक प्रतीकात्मक संकेत हमें 'रामचरित-मानस' में सुग्रीव और बालि के प्रसंग में प्राप्त होता है।

सुग्रीव और बालि के संघर्ष को गोस्वामी तुलसीदासजी दो रूपों में प्रस्तुत करते हैं। 'विनय-पत्रिका' में वे बालि को मूर्तिमान् कर्म के रूप में देखते हैं और सुग्रीव से अपनी तुलना करते हुए कहते हैं कि जैसे सुग्रीव बालि के द्वारा संत्रस्त था, उसी प्रकार मैं भी कर्मरूप बालि के द्वारा संत्रस्त हूं--

'करम-कपीस बालि-बली-त्रास-त्रस्यो हौं' (१८१।७)।

बालि बड़ा भाई है और सुग्रीव छोटा। कर्म और जीव का यही सम्बन्ध है। दोनों में अनोखी प्रीति है, पर यह प्रीति कभी विरोध में भी परिणत हो जाती है। यही कर्म का स्वभाव है। यह आवश्यक नहीं है कि यदि आज कर्म हमारे अनुकूल हो, तो कल भी वह अनुकूल ही रहेगा। जब बालि प्रसन्न था, तब सुग्रीव को वह इतना अधिक चाहता था कि स्वयं सुग्रीव ने भगवान् राम को अपना संस्मरण सुनाते हुए कहा था--

नाथ बालि अरु मैं द्वौ भाई।
प्रीति रही कछु बरनि न जाई ।। ४।५।१

और सुग्रीव बालि के स्नेहपूर्ण संरक्षण में बड़ा निश्चिन्त था। पर एक दिन बालि रुष्ट हो गया। उसके रोष का एक कारण था। मायावी नामक दैत्य ने उसे चुनौती दे दी, और जब वह युद्ध करने के लिए चला, तो सुग्रीव भी पीछे चला। बालि बड़ा ही शक्तिशाली था। उसने रावण को भी अपनी बगल में दबा लिया था। इसका तात्पर्य यह है कि रावण जगत्-विजेता हो सकता है. पर वह कर्म-विजेता नहीं हो सकता। कर्म रावण को भी अपनी बगल में दबा लेता है। कर्म के साथ भला कौन युद्धकर सकता है ? बालि कर्म है और इसलिए उसे अपनी विजय का विश्वास है। वह मायावी के पीछे दौड़ता है। मायावी एक गुफा में घुस जाता है। बालि सुग्रीव से कहता है कि तुम एक पक्ष तक मेरी प्रतीक्षा करना। कर्म अपनी सफलता के लिए एक काल निश्चित कर देता है। यहां पर कर्म ने भूल कर दी। वह सोचता है कि काल मेरे आधीन है। पर वास्तव में तो कर्म ही काल के आधीन है। व्यक्ति का जीवन केवल कर्म से संचालित नहीं होता, वह तो सृष्टि के चार तत्त्व हैं, जो मिलकर जीव के चारों ओर कार्य करते हैं, उसका जीवन संचालित करते हैं। इसीलिए व्यक्ति के जीवन के विषय में निर्णय करना बड़ा कठिन है। इन चार तत्त्वों का वर्णन करते हुए गोस्वामी जी 'रामचरितमानस' में कहते हैं--

फिरत सदा माया कर प्रेरा।
काल कर्म सुभाव गुन घेरा ।। ७।४३।५

अतः कर्म स्वतंत्र नहीं है। इसीलिए वह काल के गणित में अनुत्तीर्ण हो जाता है। बालि की धारणा थी कि वह मायावी को पन्द्रह दिन में परास्त कर देगा. और जब वह पन्द्रह दिनों में उसे परास्त न कर सका, तो इसका अभिप्राय यह हुआ कि बालि स्वयं परास्त हो गया, भले ही बाद में--तीस दिन में--वह मायावी को मारने में सफल हुआ। पर उसका काल का गणित गड़बड़ा गया। जब तीस दिन तक प्रतीक्षा करने के बाद भी बालि गुफा से बाहर नहीं आया और सुग्रीव ने रक्त की धार वहाँ से बहती

देखी, तो उसने सोच लिया कि बालि मारा गया है वह लौटकर सबको सूचित कर देता है कि बालि की मृत्यु हो गयी है। मंत्रीगण सुग्रीव को राज्य दे देते हैं। इधर जब बालि दैत्य को मारकर घर लौटता है' और वहाँ सुग्रीव को सिंहासन पर बैठे देखता है तो क्रुद्ध हो वह सुग्रीव को दण्ड देने के लिए प्रस्तुत होता है । सुग्रीव बाद में श्री राम से अपना दुखडा रोते हुए कहता है कि बालि ने मुझसे सिंहासन पर बैठने का कारण तक नहीं पूछा और मुझे मार-पीटकर, मेरा सब कुछ छीनकर निकाल दिया। इसका तात्पर्य क्या ? यह कि कर्म दिखने बाली क्रिया का दण्ड देता है, वह उसके पीछे निहित भाव को नहीं देखता। कर्म के मन में यह विचार नहीं कि आप किस भाव से कार्य कर रहे हैं। आग सामने है, वह यह नहीं देखेगी कि हम अच्छे भाव से उसमें पैर रख रहे हैं या बुरे भाव से। अग्नि का धर्म है ज्वलनशीलता। ऐसा नहीं होता कि सद्भावपूर्वक पैर रखने पर अग्नि नहीं जलाएगी और दुर्भावपूर्वक रखने पर जलाएगी। वह तो हर दशा में जलाएगी। इसी प्रकार कर्म क्रिया का परिणाम दिया करता है, उसके पीछे के सद्भाव या दुर्भाव को नहीं देखता । बालि सुग्रीव से राज्य छीन लेता है और उसे देश निकाला दे देता है। इसका तात्पर्य यह है कि जब कर्म अनुकूल होता है, तो सुख देता है, सम्पत्ति देता है और जब प्रतिकूल होता है, तो सब कुछ के छिनते देर नहीं लगती। सुग्रीव भगवान् राम को अपना संस्मरण सुनाते हुए कहता है कि बालि ने उसका पीछा किया। अभिप्राय यह है कि जब व्यक्ति के जीवन में प्रतिकूलता आती है, तो वह स्थान-परिवर्तन की बात सोचता है, विचार करता है कि शायद इस नगर को छोड़ उस नगर में चले जाने से भाग्य में कोई परिवर्तन आ जाय। सुग्रीव जहाँ जहाँ जाता है, बालि सर्वत्र उसका पीछा करता है ---

ताकें भय रघुबीर कृपाला ।
सकल भुवन मैं फिरेउँ बिहाला ।। ४।५।१२

तात्पर्य यह है कि जीव जहाँ जायेगा, कर्म वहीं उसका पीछा करेगा। तब भगवान् राम सुग्रीव से पूछते हैं---फिर तुम यहाँ कैसे रुक गये ? सुग्रीव कहता है---महाराज, मैंने सुना कि यह ऋष्यमूकपर्वत ऐसा है, जहाँ शाप के कारण बालि का प्रवेश नहीं है, इसलिये मैं यहाँ आकर रुक गया।

तो, यह ऋष्यमूक सत्संग का ऐसा पर्वत है, जहाँ कर्म प्रवेश नहीं कर सकता। जब तक आप सत्संग में हैं, सद्विचार में डूबे हैं, तब तक कर्म की सत्ता विस्मृत रहती है। पर जैसे ही व्यक्ति इस सत्संग के ऋष्यमूक पर्वत से नीचे उतरता है कि बालि रूप कर्म का राज्य प्रारम्भ हो जाता है। कर्म के भय से डरा हुआ बेचारा जीव सत्संग का आश्रय तो लेता है, पर वह पूर्ण निश्चिन्तता का अनुभव नहीं कर पाता। जब

हनुमानजी के आश्रय से उसे ईश्वर से साक्षात्कार का सौभाग्य प्राप्त होता है, तभी वह आश्वस्त हो पाता है। अभिप्राय यह है कि व्यक्ति कर्म पर अपनी क्षमता से विजय नहीं प्राप्त कर सकता, उसके लिए तो उसे ईश्वर का ही आश्रय लेना होगा, क्योंकि ईश्वर ही काल, कर्म, स्वभाव और गुण का नियामक है। और ईश्वर का यह आश्रय सुग्रीव परम सन्त हनुमान के माध्यम से प्राप्त करते हैं। हनुमानजी भगवान् शंकर के अवतार हैं और शंकरजी विश्वास के मूर्तिमान् रूप हैं--**भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धा-विश्वास रुपिणौ**'। अत: हनुमानजी भी मूर्तिमन्त विश्वास हैं। सुग्रीव का सब कुछ छिन जाने पर भी वे हनुमानजी का साथ नहीं छोड़ते। उनका राज्य छिन गया, सारी सुविधाएं छिन गयीं, उनका सब कुछ नष्ट हो गया, पर वे विश्वास को नहीं छोड़ते और इसीलिए अन्त में सब कुछ प्राप्त कर लेते हैं। यह विश्वास ही सुग्रीवरूप जीव को ईश्वर से मिलाता है और दोनों में मित्रता कराता है। तब भगवान् राम सग्रीव को आश्वस्त कर देते हैं और उनके मिस जीवमात्र को आश्वासन देते हैं कि –हे जीव, तुम निश्चिन्त हो जाओ, हम तुम्हें कर्म के त्रास से मुक्त कर देंगे। कर्म के इस महान चक्र से मुक्त करने की क्षमता केवल ईश्वर में है। वे कर्मरूप बालि का विनाश करते हैं और सुग्रीव अपना खोया हुआ राज्य पुन: पा लेते हैं।

यहाँ पर एक नया प्रश्न खड़ा हो उठता है कि कर्म-सिद्धान्त का निर्माता कौन है, सृष्टि किस सिद्धान्त के द्वारा चल रही है? 'रामचरितमानस' में कहा गया है कि ईश्वर ही कर्म-सिद्धान्त का नियामक है और उसी ने यह विधान बना दिया है कि व्यक्ति को कर्म के अनुसार फल प्राप्त होगा--

करम प्रधान बिस्व करि रखा।
जो जस करई सो तस फलु चाखा।। २।२१८।४

अब यदि ऐसी परिस्थिति में शरणागति के प्रवेश से कर्म-सिद्धान्त खण्डित हो जाए, तो फिर क्या होगा? उत्तर में कहा जाता है कि यह तो ठीक है कि कर्म का सताया जीव भक्ति का, ईश्वर का आश्रय लेगा, पर यदि भक्ति के द्वारा कर्म-सिद्धान्त पर उसकी विजय हो गयी, और वह कर्म के भय से मुक्त हो गया, तब तो वह एक दूसरे भय से आक्रान्त हो जायगा। वह दूसरा भय क्या है?

जब भगवान् राम ने सुग्रीव को राज्य दिया, तो उन्होंने दो बातें कहीं–एक तो यह कि **अगंद सहित करहु तुम्ह राजू**' (४।११।९ और दूसरी, 'संतत हृदय धरेहु मम काजू।' यह अंगद बालि का परिष्कृत रूप है। बालि अन्ततोगत्वा भगवान् के प्रति सर्मपित होकर उनमें समा जाता है और शरणागत के रूप में अंगद को सौप जाता है। अभिप्राय यह है कि कर्म तो ईश्वर-निर्मित है और इसलिए उसका विलय अन्त में ईश्वर में होता है। वह अपना परिष्कृत रूप अंगद के रूप में छोड़ जाता है। जब

भगवान् राम सुग्रीव से कहते हैं कि अंगद को साथ लेकर राज्य करो, तो इसका तात्पर्य यही है कि ईश्वर के आश्रय से तुम बालि रूप कर्म से तो निश्चिन्त हो गये, पर ईश्वर के प्रसाद रूप इस अंगद- रूप कर्म को मत भूलना। साथ ही वे यह भी धीरे से कह देते हैं कि मेरे काम का—सीतारूपी भक्ति- देवी को खोजने के कार्य का —हृदय में सदा ध्यान रखना; सीताजी को भूल मत जाना। कर्म से निश्चिन्त जीव से भगवान् कहते हैं कि तुमने ईश्वर के आश्रय से कर्म पर विजय प्राप्त तो कर ली, पर भक्ति को याद रखना, मुझे मत भूलना। व्यक्ति के साथ यही समस्या होती है। पहले तो वह भयभीत रहता है कि जैसा कर्म करेगा, वैसा फल पाएगा, पर जब कर्म के भय से वह मुक्त हो जाता है, तो उसके द्वारा ऐसी मुक्ति के दुरुपयोग की सम्भावना पैदा हो जाती है। जिस ईश्वर का आश्रय लेकर वह कर्म-भय से मुक्त होता है, उसी को वह भूल जाता है। इसी लिए भगवान् राम सुग्रीव को चेतावनी देते हैं कि तुम राज्य करो, पर सीताजी को मत भूलना। पर सुग्रीव प्रभु के आदेश का ठीक ठीक पालन नहीं कर पाते। वे उस समस्या से ग्रस्त हो जाते हैं, जो कर्म से ऊपर उठ जानेवालों के समक्ष आया करती है। जब बालि का आतंक समाप्त हो गया और कर्म से निश्शंक हो सुग्रीव राज्य करने लगे, तो राज-सत्ता में वे ऐसे डूब गये कि भगवान् विस्मृत हो गये, भक्ति का विस्मरण हो गया। वर्षा भी बीत गयी पहले गर्मी थी, फिर वर्षा आयी। गर्मी यानी व्याकुलता देखकर भगवान् ने अपनी कृपा की वर्षा की। भगवान् आशा करते रहे कि चलो सुग्रीव अभी वर्षा का आनन्द ले रहा है, पर जब वर्षा बीत जायगी, तब तो वह मेरी याद अवश्य करेगा। शरद ऋतु में जल धीरे धीरे बरसता है। उससे शीतलता तो आती है, पर जल के स्वच्छ होने पर भी भूमि के संयोग से उसमें मलिनता आ जाती है। भगवान् की कृपा का जल तो स्वच्छ ही होता है, पर जीव के अन्तःकरण में वासना की जो मिटटी है, उसके स्पर्श से उस कृपा के जल में मलिनता का बोध होने लगता है। भगवान् की कृपा से व्यक्ति को जब सत्ता मिलती है, धन मिलता है, सम्पत्ति मिलती है, तो वह बड़ा प्रसन्न होता है, पर वह समझ नहीं पाता कि अपनी वासना के द्वारा वह उस कृपा को मलिन बना रहा है। भगवान् आशा करते थे कि सुग्रीव के अन्तःकरण की वासना की मिटटी धीरे धीरे बैठेगी और उसके सामने भगवान् के कृपारूपी जल का स्वच्छ स्वरुप प्रकट हो जायगा, पर जब वर्षा ऋतु के व्यतीत हो जाने पर शरद ऋतु आ गयी, फिर भी सुग्रीव उनके पास नहीं आया, तो प्रभु ने लक्ष्मणजी का स्मरण किया। शरणागत सुग्रीव के लिए कर्म तो समाप्त किया जा चुका था। अब तक ईश्वर सृष्टि का नियमन कर्म के द्वारा कर रहा था, पर अब जब उसने शरणागत के लिए कर्म का विनास कर दिया, तो शरणागत का संचालन किसके द्वारा करेगा? ऐसे अवसर पर प्रभु श्री लक्ष्मण का स्मरण करते हैं। वे उनसे कहते हैं—

सुग्रीवहुँ सुधि मोरि बिसारी ।
पावा राज कोस पुर नारी ।। ४।१७।४

–लक्ष्मण ! राज्य, खजाना, नगर और स्त्री पाकर सुग्रीव ने मेरी सुध भुला दी ।'

संसार में यह एक सामान्य शिष्टाचार है कि जब कोई व्यक्ति किसी को भेंट में कोई वस्तु देता है, तो वह देने वाले को कृतज्ञता पूर्वक धन्यवाद देता हैं, और यह भी ध्यान रखता है कि उचित अवसर प्राप्त होने पर वह भी बदले में उसे कोई भेंट प्रदान करे । ईश्वर नित्य निरन्तर हमें भेंट भेजता रहता है । सारा जीवन ही हमें ईश्वर के द्वारा पुरस्कार के रूप में' उपहार के रूप में प्राप्त हुआ है और जीवन में हर क्षण हमें ईश्वर का उपहार ही प्राप्त हो रहा है । प्रातःकालीन सूर्य की किरणों से ले कर हमारे जीवन का सारा क्रम ईश्वर से प्राप्त उपहारों के उपभोग में व्यतीत हो रहा है । कोई व्यक्ति यदि हमें गुलाब का एक फूल भेज दे, तो हम उसे धन्यवाद देते हैं, पर यह कितने दुःख की बात है कि जो ईश्वर सृष्टि की वाटिका में हमारे लिए कोटि कोटि गुलाबोंको विकसित करता है, उसे हम याद नहीं करते । गुलाब के फूल देखकर हमें कभी यह स्मृति नहीं आती कि ईश्वर कितना कृपालु है, जिसने इन सुन्दर सुन्दर पुष्पों की सृष्टि की है । तभी तो प्रभु श्री लक्ष्मण से दुःख प्रकट करते हुए कहते हैं कि जिस सुग्रीव ने अपने जीवन में कर्म की समस्या देख ली है, जो स्वंय कर्म के आतंक से ग्रस्त रह चुका है, ऐसे सुग्रीव ने भी राज्य-सम्पदादि प्राप्त कर मुझे बिसार दिया ! अब तो लक्ष्मण ! मैंने एक निर्णय लिया है । वह क्या ? जिस बाण से मैंने बालि का वध किया था, उसी बाण से कल मैं मूर्ख सुग्रीव का वध करुँगा

जेहिं सायक मारा मैं बाली ।
तेहिं सर हतौं मूढ़ कहँ काली ।। ४।१७।५

लक्ष्मणजी चौक उठे । उन्हें आश्चर्य हुआ कि श्री राम मेरी भाषा कब से बोलने लगे ?

लक्ष्मणजी के चरित्र का अनुपम तत्त्व यह है कि वे श्री राम के द्वारा कभी भी ऐसा कार्य नहीं होने देना चाहते हैं, जिसमें श्री राम के स्वभाव की कोमलता या मर्यादा पर कोई आँच आए । कठोर भूमिका अपने लिए लेकर भगवान् राम को कोमल भूमिका में रखना उनका स्वभाव है । इसलिए गोस्वामीजी ने वन्दना में ही यह सूत्र जोड़ दिया है । वे जानते थे कि लक्ष्मणजी के व्यक्तित्व को लेकर प्रश्न उठेंगे ही । कहाँ भगवान् राम इतने कोमल और कहाँ लक्ष्मणजी इतने कठोर ! कोमल और कठोर का साथ कैसा ! परशुराम ने भगवान राम से यह प्रश्न किया भी था कि तुम जैसे सज्जन के साथ यह टेड़ा व्यक्ति कैसे ? –

सहज टेढ़ अनुहरइ न तोही' (१।२७६।८)—तुम्हारे साथ रहनेवाला तो तुम जैसा ही सज्जन होना चाहिए, पर यह तो जन्मजात टेढ़ा मालूम पड़ता है । प्रभु मुनि की

यह बात सुनकर मुसकराए थे । पर लक्ष्मणजी ने स्पष्टीकरण करते हुए एक व्यंग-भरा वाक्य कहा था **मैं तुम्हार अनुचर मुनिराया'** (१।२७७।१)—'महाराज, हम तो आपके अनुयायी हैं ।' लक्ष्मणजी का तात्पर्य यह था कि आखिर दोनों राम ही तो हैं और हम तो राम का ही अनुगमन करते हैं । एक राम के हम अनुज हैं, तो दूसरे राम के अनुचर । लक्ष्मणजी के शब्दों में परशुराम के प्रति व्यंग भरा था । उनका अभिप्राय यह था कि महाराज; यदि टेढ़ापन बुरा है, जैसा कि आप कह रहे हैं; तो आप भी उसे छोड़ दीजिए और आपका अनुचर होने के नाते मैं भी उसे छोड़ दुँगा । और यदि श्री राम की सरलता आपको इतनी अच्छी लगती है, तो आप भी उसे अपने जीवन में स्वीकार कर लीजिए । यदि टेढ़ापन या क्रोध आपके लिए बुरा नहीं हैं, तो वह मेरे लिए बुरा क्यों होना चाहिए ? 'अनुचर' शब्द का लक्ष्मणजी द्वारा प्रयोग उल्लेखनीय है । अनुचर केवल पीछे ही नहीं चला करता बल्कि वह सेवक भी होता है । जैसे यदि आपको कहीं जाना हो और आपका सामान उठाने-वाला कोई न हो, तो आप अपने सिर पर सामान लादकर चलते हैं, पर इतने में आपका कोई अनुचर आ जाय, तो उसके सिर पर सामान रख निश्चिन्त हो चलने लगते हैं । वैसे ही लक्ष्मणजी का अपने को मुनि का अनुचर कहने के पीछे कटाक्ष यह था कि मुनिराज, आपने क्रोध का बोझ बहुत दिनों तक ढोया, पर अब जब मैं आपका अनुचर आ गया हुँ, तो वह बोझ मेरे सिर पर दे दीजिए । अब तो आप **'परिहरि कोपु'**- क्रोध को छोड़ दीजिए और **'करिअ अब दाया'**---दया कीजिए । आप अपना क्रोध मुझे दे दीजिए, मैं सँभाल लूँगा । अभिप्राय यह है कि सृष्टि में केवल कोमलता से काम नहीं चलता, कठोरता भी आवश्यक होती है । सृष्टि से टेढ़ापन या कठोरता को हटाया नहीं किया जा सकता । चिकित्सक जब रोगी को दवा देता है, तो दवा मीठी भी हो सकती है, पर यदि शल्य-चिकित्सा की आवश्यकता पड़ी, तो चिकित्सक को कठोर शस्त्र का प्रयोग भी करना पड़ सकता है । तभी तो श्री राम के साथ सदैव श्री लक्ष्मण चला करते हैं । इन दोनों के परस्पर सम्बन्ध का वर्णन करते हुए गोस्वामीजी कहते हैं—

रघुपति कीरति बिमल पताका ।
दंड समान भयउ जस जाका ।। १।१६।६

—एक यदि पताका हैं, तो दूसरे उसे फहरानेवाले दण्ड के समान हैं । इससे बढ़कर कोई सार्थक उपमा नहीं हो सकती । पताका कोमल है और दण्ड कठोर, पर दोनों मिलकर ही सार्थकता की सृष्टि करते हैं । राज्य का प्रधान चिह्न ध्वज होता है और यह उचित तथा अपेक्षित है कि उसमें कोमलता और कठोरता का ठीक समवन्य हो । ध्वजा का वस्त्र इतना कोमल होता है कि वह तनना नहीं जानता और डण्डा इतना

कड़ा होता है कि वह झुकना नहीं जानता। वस्त्र की प्रकृति शील की प्रकृति है, तभी तो 'धर्मरथ' के प्रसंग में भगवान राम कहते हैं—**'सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका'**-(६।७९।५)—सत्य और शील उस रथ की मजबूत ध्वजा और पताका हैं।' वस्त्र की शोभा इसमें है कि वह तनना न जाने और डण्डे की शोभा इसमें है कि वह झुकना न जाने। यदि तनना न जाननेवाला वस्त्र दण्ड का आश्रय न ले, तो झण्डा कभी फहरा नहीं सकता और जो ध्वज ठीक से फहरा न सकता हो, उसके प्रति व्यक्ति की श्रद्धा के न्यून हो जाने की सम्भावना बनी रहती है। केवल शील व्यक्ति की श्रद्धा को आकर्षित नहीं कर सकता। कभी कभी तो लोग दूसरे की कोमलता को कायरता भी समझ लेते हैं। जो व्यक्ति शील का प्रदर्शन करते हुए बार बार झुकता जाय, उसके सम्बन्ध में दूसरा व्यक्ति यह गलत धारणा बना सकता है कि वह शायद मुझसे डरता है, इसीलिए बार बार मेरे सामने झुक रहा है। अतः जब तक शील के पीछे शौर्य का कठोर दण्ड न होगा, तेजस्विता न होगी ,वह लोगों के अन्तःकरण में सच्ची श्रद्धा का सृजन नहीं कर सकेगा, और हो सकता है कि वह कायरता का पर्यायवाची बन जाय। अतएव शील के साथ दण्ड का रहना आवश्यक है। यह दण्ड स्वयं में क्या है ? या तो वह अहंकार का प्रतीक है, या समर्पण का। जब डण्डा अपने को ऊँचा रखना चाहे, तो अहंकार का प्रतीक है और अपने स्थान पर झण्डे को फहराना चाहे , तो समर्पण का। यही लक्ष्मणजी का चरित्र है। उनकी भूमिका डण्डे की भूमिका है, पर वह अहंकार की भूमिका नहीं है, क्योंकि अहंकारी तो स्वयं अपने आपको लोगों की दृष्टि में ऊपर उठाना चाहता है, अकड़कर यह दिखाना चाहता है कि मैं कितना बड़ा हूँ, जबकि लक्ष्मणजी अपने को दबाकर भगवान् राम के ही यश का विस्तार करना चाहते हैं, अपने को ऊपर उठाने की बात उनके मन में कभी आती ही नहीं।

लक्ष्मणजी की भूमिका बड़ी अनोखी है। गोस्वामी जी उनकी वन्दना में इसका संकेत करते हुए कहते हैं—**सदा सो सानुकूल रह मो पर, कृपासिंधु' (१/१६/८)** —'हे सुमित्रानन्दन , आप कृपा के सिंधु है।' पर उन्हें देखकर तो ऐसा नहीं लगता कि वे इतने कृपालु हैं, उल्टे यही लगता है कि वे प्रहार ही करते हैं। डण्डे को देखकर ऐसा लगना स्वाभाविक है, पर यदि उसे झण्डे के साथ जोड़ दिया जाय, तब तो ऐसा नहीं लगता कि उसका कार्य किसी को मारने का है, बल्कि यही लगता है कि उसका कार्य केवल कीर्तिध्वज को ऊपर उठाना है। लक्ष्मणजी की यही भूमिका है, वे प्रभू की कीर्ति-पताका को फहराने का कार्य करते हैं। अतएव भगवान् राम जब उनसे कहते हैं कि जिस बाण से मैंने बालि का वध किया था, । उसी बाण से कल उस मूर्ख सुग्रीव का भी वध कर दूँगा, तो श्री लक्ष्मण इस बात पर आपत्ति करते हैं। 'बाल्मीकि-रामायण' में आता है कि भगवान् राम श्री लक्ष्मण से कहते हैं—जाकर सुग्रीव को

बता दो कि जिस मार्ग से बालि गया था, वह सँकरा नहीं हो गया है, अब भी चौड़ा है और दूसरे भी उस मार्ग से जा सकते हैं। तात्पर्य यह कि यदि अनाचार का दण्ड बालि को प्राप्त हो सकता है, तो सुग्रीव उसका अपवाद नहीं हो सकता। तो, जब भगवान् राम सुग्रीव के वध की बात करते हैं, तो लक्ष्मणजी आपत्ति करते, हैं। ऐसा क्यों ? जब भगवान् राम रावण को मारने के लिए चलते हैं, तब लक्ष्मणजी आपत्ति नहीं करते, क्योंकि उन्हें लगता है कि रावण के वध से प्रभू को कीर्ति मिलेगी। जब श्री राम खर और दूषण के नेतृत्व में आये चौदह हजार राक्षसों से लड़ने के लिए जाते हैं और लक्ष्मणजी से कहते हैं--

लै जानकिहि जाहु गिरि कंदर ।
आवा निसिचर कटकु भयंकर ।।३/१७/११

---'लक्ष्मण, तुम जानकीजी को लेकर पर्वत की कन्दरा में चले जाओ, राक्षसों की भयानक सेना आ गयी है' तब भी लक्ष्मणजी कोई आपत्ति नहीं करते। लक्ष्मणजी को तो कहना चाहिये था कि प्रभू, राक्षसों की सेना विशाल है और आप मुझे युद्धक्षेत्र से हटाकर गुफा में भेज रहे हैं, मैं इतनी बड़ी सेना से आपको अकेले जूझने कैसे दूँगा? पर वे ऐसा कुछ नहीं कहते और भगवान् राम की आज्ञा का पालन करते हुए जानकीजी को लेकर गुफा में चले जाते हैं। ऐसा क्यों ? इसलिए कि लक्ष्मणजी जानते हैं कि चौदह हजार राक्षसों को मारने के लिए अधिक संख्या की आवश्यकता नहीं। उन्हें पता है कि जब इन राक्षसों ने तपस्या की और उनसे पूछा गया कि तुम क्या चाहते हो, तो उन्होंने वरदान माँगा---हमें कोई दूसरा न मारे, हम लोग यदि मरें भी तो आपस में लड़कर मरें। ये राक्षस अपने को बड़ा बुद्धिमान् मानते थे; जब भी, कोई वरदान देनेवाला आता तो ये सोचते कि हम वही लेंगे जो यह न देना चाहे। इसलिए तरह तरह के वरदान सोचते। उन्होंने आपस में लड़कर मरने का जो वरदान माँगा, उसके पीछे भावना यह थी कि दूसरा हमें क्यों मारे, बाहर का विजेता क्यों हो ? यदि मरना ही है तो अपनों से मरें, हारना है तो अपनों से हारें। फिर, वह वरदान माँगने के पीछे उनका यह विश्वास भी था कि हम आपस में इतना प्रेम करेंगे कि कभी एक दूसरे से लड़ेंगे नहीं। और जब लड़ेंगे ही नहीं, तो मरेंगे क्योंकर ? ब्रह्माजी ने भी कह दिया --'तथास्तु' । लक्ष्मणजी इस सत्य को जानते हैं। उन्हें लगता है कि इन चौदह हजार राक्षसों को तो आपस में लड़कर ही मरना है । फिर मैं प्रभू के साथ यहाँ रहकर क्या करूँगा ? वे अकेले ही उन सबके लिए पर्याप्त हैं। फिर यदि मैं यहाँ रह गया, तो प्रभू की कीर्ति में बँटवारा हो जायगा। लोग विजय का आधा श्रेय प्रभू को देंगे और आधा मुझको भी । प्रभू की कीर्ति का बँटवारा अच्छा नहीं, केवल उन्हीं को श्रेय प्राप्त हो। और ऐसा सोच लक्ष्मणजी प्रभु की बात पर कोई आपत्ति नहीं करते, वे सीताजी को लेकर चले जाते हैं। पर

जब भगवान् राम कहते हैं कि जिस बाण से मैंने बालि को मारा, उसी से कल मूर्ख सुग्रीव का वध करुँगा, तो लक्ष्मणजी आपत्ति करते हैं । वे कहते हैं—प्रभु, आपके इस प्रस्ताव में मुझे आपत्ति है । इसमें मेरे तीन संशोधन हैं । पहला तो यह कि जब बालि को आपने दण्ड दिया, तो सुग्रीव को दण्ड देने का कार्य मुझे दीजिए, क्योंकि वालि बड़ा भाई था और उसे बड़े भाई ने दण्ड दिया, इसलिए छोटे भाई के भूल करने पर दण्ड देने के लिए छोटा भाई ही अच्छा रहेगा । दूसरा संशोधन यह है कि आपने जो अपने बाण से सुग्रीव को दण्ड देने की बात कही है, उस सन्दर्भ में मैं यह कहूँगा कि मेरे तरकस में ये जो बाण हैं, उनका भी उपयोग होना चाहिए । और तीसरा संशोधन यह कि आपने कल मारने की बात कही, वह ठीक नही । शुभ कार्य कभी कल पर नहीं डालना चाहिए । देखिए, पिताजी ने कहा था कि कल राज्य देंगे, सो आज तक नहीं हो पाया; यदि वे अपने निर्णय के अनुसार राज्य दे देते, तो सारा संघर्ष ही समाप्त हो जाता । अतएव मैं आज, अभी जाकर अपने बाण से सुग्रीव को दण्ड दे आता हूँ ।

और प्रभु मुसकरा उठे । वे कोई जीव को मारने की योजना थोड़े ही बना रहे, हैं, वे तो मात्र उसे डराकर सचेत कर देना चाहते हैं । उनकी यह योजना लक्ष्मणजी अपने आक्रोश से प्रकट कर देते हैं । वे श्री लक्ष्मण को समझाते हुए कहते हैं कि सुग्रीव को मारना नहीं है, उसे डर दिखाकर ले भर आना है—

तब अनुजहि समुझावा रघुपति करुना सींव ।
भय देखाइ लै आवहु तात सखा सुग्रीव ।। ४।१८

भगवान् राम श्री लक्ष्मण के माध्यम से सुग्रीव के अन्तःकरण में भय पैदा करके उसे अपने पास आने के लिए बाध्य करते हैं । लक्ष्मणजी हैं कालतत्त्व । जब ईश्वर की कृपा से जीव को कर्म से मुक्ति प्राप्त हो जाती है, तो इसका तात्पर्य यह नहीं ले लेना चाहिए कि ईश्वर के तरकस के तीर खाली हो गये । जब जीव कर्मभय से मुक्त हो, राज्य-सत्ता और भोग पाकर, ईश्वर को भूलने लगता है, तब ईश्वर काल को प्रेरित करता है । जब हम जीवन में ईश्वर का विस्मरण करने लगते हैं तब काल आकर हमें सचेत कर देता है कि अरे, तुम भला हो क्या ? तुम्हारी सत्ता तुम्हारी क्षमता, तुम्हारी योग्यता—यह सब भला है क्या, जिसके फेर में पड़कर तुम ईश्वर को भूले हुए हो ? काल हमें डराता है, लक्ष्मणजी हमें डराते हैं । पर इनके डराने में एक विशेषता है । जब आप किसी व्यक्ति को डराते हैं, तो वह डरकर आपसे दूर भागता है, पर जब लक्ष्मणजी हमें डराते हैं तो हम ईश्वर के पास जाते हैं । प्रभु जो लक्ष्मणजी से कहते हैं—'भय देखाइ लै आवहु', उसका यही तात्पर्य है कि डराकर मेरे पास ले आना । अभिप्राय यह है कि संसार में डर हमें उस व्यक्ति से दूर ले जाता है, जिससे हम डरते हैं, पर ईश्वर का डर हमें ईश्वर के पास ले जाता है । यही लक्ष्मणजी की भूमिका की

सार्थकता है। वे व्यक्ति को भयभीत कर वस्तुतः ईश्वर के पास ही ले जाते हैं। भले ही उनका कार्य बाह्य दृष्टि से कठोर मालूम पड़ता है, पर वस्तुतः वे भीतर से कोमल हैं, वे जीव का कल्याण ही चाहते हैं। तो, लक्ष्मण के रूप में भगवान् राम काल को प्रेरित करते हैं कि वे जाकर सुग्रीव को इस सत्य का दर्शन कराएँ कि भले ही व्यक्ति कर्म से ऊपर उठ गया हो तथापि वह काल के द्वारा नियंत्रित है, इसलिए काल की विस्मृति उसे नहीं करनी चाहिए।

लक्ष्मणजी अपनी भूमिका सम्पन्न करते हैं। वे धनुष-बाण लेकर सुग्रीव के पास जाते हैं। समाचार पाकर सुग्रीव भय से काँप उठते हैं। काल का उग्र रूप जब सामने आता है, तो बड़े से बड़ा बुद्धिमान् और शक्तिशाली व्यक्ति भी भयभीत हो उठता है। सुग्रीव ऐसे समय एक चतुराई करते हैं। उन्हें लक्ष्मणजी के सामने जाने का साहस नहीं होता। वे हनुमान से कहते हैं—

सुनु हनुमंत संग लै तारा।
करि बिनती समुझाउ कुमारा ।। ४।१९।३

—तुम तारा को लेकर जाओ और लक्ष्मणजी को किसी भी प्रकार शान्त करो। इसका अभिप्राय यह है कि जीवन में जब कभी काल का भय उपस्थित हो, तो आप विश्वास का आश्रय ले लें। जैसे, जब बालक को माँ डराती है, उग्र रूप ले खड़ी हो जाती है और कहती है कि मैं तुझे पीटूँगी, जब उसकी आँखो में क्रोध की लाली झलकने लगती है, तब बालक क्या करता है ? किसके भरोसे निश्चिन्त रहता है ? उसे तो माँ के वात्सल्य का, माँ का अपने प्रति प्यार के विश्वास का ही भरोसा है और उसका यह विश्वास ही उसे निश्चिन्त रखता है।

एक प्रसिद्ध कथा है। भगवान् राम ने दण्ड-कारण्य में कभी अपने नुकीले तीर को पृथ्वी में गाड़ दिया। जब तीर को निकाला, तो उसमें रक्त लगा हुआ था। उन्हें आश्चर्य हुआ कि पृथ्वी के नीचे ऐसा कौनसा जीव था, जो तीर से आहत हुआ ? उन्होंने लक्ष्मण से मिटट्टी खोदने को कहा, तो उसमें से एक मेंढक निकल आया। श्री राम ने पूछा—भाई, जब बाण तुम्हारे ऊपर चुभने लगा, तो तुमने पुकारा क्यों नहीं ? मेंढक बोला—प्रभु, संसार का संकट आए तो ईश्वर को पुकारा जाता है, पर जब ईश्वर का ही संकट पड़ रहा हो तो किसको पुकारें ? यही सोच मैं चुप रहा।

तो, जैसे बालक को उसकी माँ के वात्सल्य का विश्वास निश्चिन्त रखता है, उसी प्रकार जीव पर जब काल का भय उपस्थित हो, तो उसे विश्वास का सहारा लेना चाहिए और समझना चाहिए कि काल उसे ईश्वर के पास जाने का ही सन्देशा दे रहा है। प्रभु वस्तुतः काल के माध्यम से जीव को अपने पास आने का ही निमंत्रण भेजते हैं। गोस्वामीजी 'रामचरितमानस' में इसका संकेत प्रदान करते हुए भगवान्

राम के चरित्र का प्रतीकात्मक रूप हमारे समक्ष प्रस्तुत करते हैं। प्रभु के हाथ में धनुष और बाण है—धनुष विल्कुल टेढा है तो बाण बिल्कुल सीधा। पर यह टेढापन और सीधापन दोनों एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं, बल्कि दोनों मिलकर ही प्रभु का कार्य सम्पन्न करते हैं। धनुष पास रहता है और बाण दूर भी जाता है। एक में वक्रता है तो दूसरे में ऋजुता, पर दोनों व्यक्ति को प्रभु के पास लाने का ही कार्य करते हैं। श्रीकृष्ण जब किसी जीव को आकृष्ट करना चाहते हैं, तो मुरली पर स्वर-सन्धान करते हैं और जब श्री राम किसी को अपने पास बुलाना चाहते हैं, तो धनुष पर शर-सन्धान करते हैं। यह धनुष है क्या ? 'लंकाकाण्ड' के प्रारम्भ में इसका संकेत देते हुये गोस्वामीजी लिखते हैं—

लव निमेष परमानु जुग बरष कलप सर चंड ।
भजसि न मन तेहि राम को कालू जासु कोदंड ।। ६।०

—लव, निमेष, परमाणु, वर्ष, युग और कल्प ये श्री राम के प्रचण्ड बाण हैं और काल उनका धनुष है। तात्पर्य यह है कि ईश्वर का धनुष है मूर्तिमान काल, और यह काल टेढ़ा प्रतीत होता है। हमें ध्यान इस बात का रखना है कि इस काल की प्रेरणा किस दिशा में है। चाहे लक्ष्मणजी को सुग्रीव के पास भेजा जा रहा हो, चाहे इन्द्रपुत्र जयन्त के पीछे श्री राम का बाण लगा हो, महत्वपूर्ण तो वह है, जो श्री लक्ष्मण और बाण के रूप में कालतत्त्व को प्रेरित करता है।

भगवान् राम सीताजी का शृंगार कर रहे हैं। जयन्त को लगता है कि यह राजकुमार तो बड़ा विषयी मालूम पड़ता है, जो अपनी पत्नी का ऐसा शृंगार कर रहा है। यह ईश्वर कैसे हो सकता है ? और वह कौए का रूप धारण कर सीताजी के चरणों पर अपनी चोंच से प्रहार करता है। जब भगवान् राम सीताजी के चरण से रक्त बहते देखते हैं, तो वे जयन्त के पीछे सींक के बाण का सन्धान करते हैं—**सींक धनुष सायक संधाना' (३।०।८)**। गोस्वामीजी कहते हैं कि प्रभु ने धनुष भी सींक का बनाया और बाण भी सींक का। इसका तात्पर्य यह है कि काल तो ईश्वर का संकल्प है, कोई स्थूल वस्तु नहीं। मृत्यु के लिए लोहे के धनुष की आवश्यकता नहीं, वह तो सींक से ही हो सकती है। मृत्यु के अनगिनत माध्यम है; व्यक्ति इतनी सरलता से मर सकता है, जिसका कोई ठिकाना नहीं। यही कारण है कि ईश्वर ने उस धनुष-बाण का प्रयोग नहीं किया, जिसे वे धारण करते हैं, बल्कि उन्होंने सींक का धनुष और सींक का ही बाण बना लिया। यह सींक क्या है ? जब भगवान् राम सीताजी के लिए पुष्पों का आभूषण गूँथने लगे, तो वहाँ कोई सुई-धागा तो था नहीं वे सींक से ही फूलों को गूँथ-गूँथकर आभूषण तैयार करने लगे। जब जयन्त ने सीताजी के चरणों में प्रहार किया, तो सींक के जो दो-एक टुकड़े बचे हुए थे, उन्हीं से श्री राम ने धनुष और बाण बना लिये। प्रभु मानो यह बताना चाहते हैं कि मेरे

पास कोमल और कठोर दो वस्तुएँ नहीं है; जो सींक किसी के लिए आभूषण है, वही किसी दूसरे के लिए काल । ईश्वर के पास दो प्रकार के पदार्थ नहीं है । उसमें जो मूल तत्व है, वह कोमलता और कठोरता की अनुभूति मात्र कराती है, वस्तुत: उसमें पार्थक्य नहीं । 'विनय-पत्रिका' में गोस्वामीजी एक मीठी चुटकी लेते हुए कहते हैं—प्रभु, मुझे आपसे डर नहीं लगता । प्रभु ने पूछा—क्यों नहीं लगता ? गोस्वामीजी ने कहा—मुझे इस बात का पता चल गया है कि आप किसके बने हुए हैं । आपकी मूर्ति कृपा की बनी है—**'प्रभु मूरति कृपामयी'** । गोस्वामीजी यहाँ जो ,मूर्ति शब्द लिखते हैं, उसका तात्पर्य क्या ? वे कह सकते थे—आप कृपा के बने हुए हैं । 'मूर्ति' शब्द का प्रयोग हम मन्दिर की प्रतिमा के लिए करते हैं, किसी व्यक्ति के लिए नहीं । किसी व्यक्ति को देखकर हम ऐसा नहीं कहते कि यह मूर्ति है, पर जब हम मन्दिर में दर्शन के लिए जाते हैं, तो वहाँ की प्रतिमा के लिए मूर्ति शब्द का प्रयोग करते हैं । तुलसी दासजी ने भगवान् से कहा कि आपकी मूर्ति कृपा की बनी हुई है । यह मूर्ति शब्द बड़ा ही साहित्यिक है । जब आप मूर्ति को ध्यान से देखेंगे, तब इसके महत्व से अवगत होंगे । आप लक्ष्मी-नारायण के मन्दिर में जाते हैं, तो क्या देखते हैं ? यह कि भगवान् नारायण के एक हाथ में चक्र है, तो दूसरे हाथ में कमल । चक्र मारनेवाला है, कठोर है और कमल अत्यन्त कोमल । पर हँसी तो तब आती है, जब यह बात ध्यान में आती है कि मूर्ति में चाहे चक्र दिखायी दे, चाहे कमल, न तो चक्र कठोर है और न कमल कोमल, वहाँ तो केवल आकृतियाँ बनी हुई हैं । वस्तुतः दोनों के मूल में एक ही धातु है, जिसकी कि मूर्ति बनी हुई है । यदि मूर्ति पत्थर की है, तो चक्र भी पत्थर का है और कमल भी । गोस्वामीजी का तात्पर्य यह है कि महाराज, जो आकृति को देखता है, उसके मन में भले ही चक्र को देखकर डर उत्पन्न हो और कमलको देखकर आकर्षण, पर जो दोनों की मूल धातु को देखता है, वह जानता है कि मूलत: आप एक ही हैं, आपका कमल तो आपकी कृपा का प्रतीक है ही, आप का चक्र भी आपकी कृपा का ही प्रतीक है—आप कृपा के ही बने हुये हैं ।

तो प्रभू सींक का ही धनुष बनाते हैं और सींक का ही बाण और उसे जयन्त के पीछे छोड़ देते हैं— **'प्रेरित मंत्र ब्रह्मसर धावा' (३।१।१)** ।मंत्र से प्रेरित होकर वह ब्रह्मबाण दौड़ता है और कौआ भयभीत होकर भाग चलता है । जीव काल से भयभीत होकर भागता है । जयन्त अपने पिता देवराज इन्द्र के पास जाता है, पर इन्द्र उसे अस्वीकार कर देते हैं । स्वर्ग कोई ऐसा स्थान तो है नहीं, जहाँ काल का प्रवेश न हो । देवताओं की आयु भले बड़ी लम्बी हो, पर हमारे शास्त्र और पुराण कहते हैं कि उनकी भी मृत्यु होती है, देवराज इन्द्र भी कालकवलित होते हैं । इसलिए जब जयन्त ईश्वर के काल के बाण से भयभीत होकर अपने पिता इन्द्र के पास जाता है, तो इन्द्र उसे अस्वीकार करते हुए कहते हैं——तुम्हें स्वीकार कर हम अपनी मृत्यु क्यों

बुलाएँ, तुम चले जाओ। और जयन्त वहाँ से चला जाता है। वह ब्रह्मा के पास जाता है, शिवलोक जाता है, पर कोई उसे बैठने के लिए नहीं कहता। भला उसे कौन बिठा सकता है, जिसके पीछे काल लगा है? जहाँ तक काल की सत्ता है, उसके भीतर भला किसे साहस होगा कि जयन्त को स्वीकार कर सके ? ब्रह्मलोक आदि सभी काल की सत्ता से नियंत्रित हैं। इसलिए——

ब्रह्मधाम सिवपुर सब लोका।
फिरा श्रमित व्याकुल भय सोका॥
काहूं बैठन कहा न ओही। ४।१।४-५

भय, शोक और क्लान्ति से जयन्त हताश हो उठा। सोचने लगा कि अब कहाँ जाऊँ। इतने में उसके जीवन में सन्त आ गये। देवर्षि नारद ने पूछा—'कहो जयन्त, ! कहाँ भाग रहे हो ? जरा सुनो तो मेरी बात।' जयन्त बोला, 'देखते नहीं महाराज मेरे पीछे क्या लगा है ?' देवर्षि बोले', अरे यह तो भगवान् का बाण है—यह तो काल है। यह काल तुम्हारे पीछे क्यों लगा हुआ है?' मारने के लिये।' 'कब से लगा हुआ है ?' 'जब मैंने सीताजी के चरणों में प्रहार किया तब से।' 'कहाँ कहाँ लगा रहा तुम्हारे पीछे ?' 'जहाँ जहाँ मैं गया, वहाँ वहाँ।' नारद ने हँसकर कहा—— 'जयन्त, तुमने बाण का सही अर्थ नहीं समझा। यदि उस का उद्देश्य तुम्हें मारना होता, तब तो वह तुम्हें कभी का मारदे सकता था,क्योंकि तुम्हें बचाने वाला तो कोई था नहीं। यह बाण तुम्हारे पीछे हर देश में था और वह चाहे जहाँ तुम्हें मार सकता था। पर जब तुम्हें मार नहीं रहा है, तो इसका कुछ अलग अर्थ है, जो तुम समझ नहीं पा रहे हो।' और यह सच ही तो है कि यदि ईश्वर मारना चाहे, तब तो जीव को जन्म लेते ही मार दे सकता है, जीव की मृत्यु किसी भी क्षण हो सकती है। नारद की बात सुनकर जयन्त बोला, 'महाराज मैं तो कुछ समझ नहीं पा रहा हूँ कि बाण का क्या अर्थ है। आप ही बता दीजिए।' देवर्षि बोले, 'देखो जयन्त, यह बाण तुम्हारे पीछे पीछे चलकर यह बता रहा है कि तुम जहाँ भी जाओगे, यह भी तुम्हारे पीछे लगा रहेगा। तुम संसार में कहीं भी जाकर इस काल से बच नहीं सकते। यदि तुम बचना चाहते हो, तो उनके पास जाओ, जहाँ से यह काल प्रेरित हुआ है। जिन्होंने इस बाण का सन्धान किया है, उन्हीं के पास जाकर तुम बच सकते हो।'

जयन्त ने काल की सर्वत्र गति देख ली थी। उसे सन्त की बातों का भरोसा हुआ। पर उसके मन में एक डर आया कि यदि मैं भगवान् के पास लौटकर गया और उन्होंने पूँछा, तुम्हें आना था, तो दूर क्यों गये, तो इसका क्या उत्तर दूँगा ? देवर्षि बोले, 'उनसे कह देना कि महाराज, आपसे दूर भला कौन जा सकता है ? मैं तो सारे संसार में घूमकर वस्तुतः आपका प्रभाव देख रहा था। अपने निकट वालों

पर तो सबका प्रभाव होता है, पर मैं देखना चाहता था कि आपका प्रभाव कितनी दूर तक फैला हुआ है। सारे ब्रह्माण्ड का भ्रमण करके मैंने देख लिया कि आपका प्रभाव सभी जगह है।' 'पर यदि भगवान् पूछ दें कि प्रभाव देखने गये थे, तो लौटकर पास आये क्यों, तो इस प्रश्न का क्या उत्तर दूँगा ?— जयन्त ने पूछा। देवर्षि हँसकर बोले, 'तब कह देना कि महाराज, प्रभाव तो आपका देख ही चुका था, अब स्वभाव देखने की इच्छा से आपके पास आया हूँ। प्रभाव का परिचय दूर से मिलता है, जबकि स्वभाव का पास से। मैंने आपके स्वभाव के सम्बन्ध में सुना है कि आप बड़े बड़े अपराधियों को क्षमा प्रदान करते हैं, आपका स्वभाव बड़ा कोमल है, सो महाराज, आपके स्वभाव की इस सत्यता को परखने के लिये ही आपके पास आया हूँ।' और जयन्त सन्त के निर्देशानुसार भगवान् राम के पास जाता है तथा उनके शरणागत होता है। दयालु प्रभु उसकी रक्षा करते हैं।

तो, जीव को अपने पास बुलाने के लिये प्रभु काल को चाहे तो बाण के रूप में प्रेरित करें, चाहे लक्ष्मण के रूप में। लक्ष्मण जी सुग्रीव के पास जाते हैं। सुग्रीव भय से काँपने लगते हैं। उन्हें लक्ष्मण जी के सामने जाने का साहस नहीं होता। वे हनुमान-जी से कहते हैं — तुम तारा को साथ ले जाकर राजकुमार को समझाओ। पर हनुमान जी को डर नहीं लगता, क्योंकि वे ईश्वर के स्वभाव से परिचित हैं, लक्ष्मण-जी के स्वरूप को जानते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि जिस व्यक्ति को ईश्वर के काल के सच्चे स्वरूप का ज्ञान हो गया है, उसे पता है कि भय केवल दिखावटी है, वह नकली तलवार है; वह जान लेता है कि इस भय के पीछे करुणा की ही वृत्ति है। तभी तो हनुमानजी के अन्तःकरण में रंचमात्र भी भय नहीं है वे तारा को लेकर लक्ष्मणजी के पास जाते हैं और एक चतुराई करते हैं।। सामान्यतः जब आप किसी विशिष्ट व्यक्ति के पास जाते हैं, तो उसकी प्रशंसा करते हैं। पर यहाँ हनुमानजी ने श्री लक्ष्मण की प्रशंसा नहीं की। तब ?—

तारा सहित जाइ हनुमाना।
चरन बंदि प्रभु सुजस बखाना ।। ४।१९।४

—वे लक्ष्मणजी के चरणों में प्रणाम कर भगवान् राम की प्रशंसा करने लगते हैं कि प्रभु का स्वभाव कितना कोमल है, कितना उदार है, वे कितने क्षमाशील हैं। हनुमानजी जानते हैं कि श्री लक्ष्मण भगवान् राम की कीर्ति-पताका के डण्डे हैं और वे किसी भी प्रकार इस झण्डे को झुकने नहीं देंगे। हनुमानजी का तात्पर्य यह है कि यदि लक्ष्मण-जी अधिक कठोरता प्रदर्शित करेंगे, यदि दण्ड देंगे, तो उनका गौरव तो बढ़ेगा नहीं उल्टे श्री राम की कीर्ति ही कम होगी। पहले मित्र बनाकर बाद में दण्ड देना उनके लिए किसी प्रकार शोभनीय न होगा। जब वे श्री राम की कीर्ति-पताका के रक्षक हैं,

हैं, तो उस ध्वज को वे कभी झुकने न दगे। इसीलिए जब हनुमानजी भगवान् राम के यश का वखान करते हैं, तो लक्ष्मणजी का क्रोध तुरन्त शान्त हो जाता है। वे यह भी नहीं कहते कि किस उद्देश्य से आये हैं। गोस्वामीजी यहाँ पर एक बड़ा प्रतीकात्मक वाक्य लिखते हैं—

करि बिनती मंदिर लै आए।
चरन पखारि पलँग बैठाए ॥ ४।१९।५

—हनुमानजी विनती करके लक्ष्मणजी को महल में ले आते हैं और चरणों को धोकर उन्हें पलँग पर बिठाते हैं। लक्ष्मणजी को पलँग पर बिठाना मानो उनके चरित्र का सच्चा स्वरूप प्रकट कर देना है। लक्ष्मण और पलँग का भला क्या सम्बन्ध है? पलँग कोई बैठने की जगह तो है नहीं, वह सोने की जगह है। फिर, लक्ष्मणजी तो पलँग छोड़कर, वैभव और भोग का त्याग कर वन में आये हुए हैं। यही नहीं, उन्होंने न सोने का व्रत लिया हुआ है। कल इसका संकेत आपके सामने रखा गया था। काल निरन्तर चैतन्य है, वह नित्य जागृत है, वह कभी सोता नहीं। रावण ने अंगद से कहा था—जाकर राम से कह देना कि **'कुभंकरन अस बंधु मम'** (६।२७) मेरे कुम्भकर्ण जैसा महान् भाई है, उसके रहते मुझे क्या चिन्ता? यह समाचार सुनकर भगवान् राम को हँसी आ गयी थी। प्रभु ने सोचा था कि जब रावण को छह महीना सोनेवाले अपने उस भाई पर गर्व हो सकता है, तो मुझे अपने इस भाई पर कितना गर्व होना चाहिए, जो कभी सोता ही नहीं, जो निरन्तर चैतन्य है, जाग्रत् है, हर क्षण सजग है। लक्ष्मणजी ऐसे भाई हैं, जो भगवान् राम के सो जाने पर भी निरन्तर प्रबुद्ध मुद्रा में बैठे रहते हैं—**'जागन लगे बैठि बीरासन'** (२।८९।२)। ऐसे लक्ष्मणजी को यदि बिठाना ही था, तो मृगचर्म पर बिठाते, बाघाम्बर डाल देते या कुश का आसन बिछा देते। पर पलँग पर बैठने का क्या अर्थ? हनुमानजी कुछ बातें तो वाणी से कहते हैं और कुछ संकेत से। यदि लक्ष्मणजी पूँछ देते कि यह भी कोई बैठने की जगह है, तो हनुमानजी मानो उत्तर देते—महाराज, यहाँ पर तो सब सोने ही सोने की जगह है। यदि यहाँ सोने वाले जीव न होते, तो क्या भगवान् के कार्य को भुला देते? यहाँ तो पलँग बिछा ही रहता है और प्रत्येक जीव सो रहा है। जो लोग जगते दिख रहे हैं वे भी वस्तुतः किसी मोहमयी निद्रा में, अपनी कल्पना में सो ही रहे हैं—

मोह निसाँ सबु सोवनिहारा।
देखिअ सपन अनेक प्रकारा ॥ २।९२।२

तो महाराज, ऐसे सोये हुए लोगों के पास आपके योग्य आसन भला कहाँ से हो सकता है? अगर आसन होता, तो ऐसी भूल ही क्यों होती? आपको कष्ट करके यहाँ तक क्यों आना पड़ता? सोते हुओं को जगाने के लिए ही आप कष्ठ उठाकर

यहाँ तक आये हैं। सच ही तो है--काल चैतन्य करता है, जगाता है। पर यदि लक्ष्मणजी ने पुनः पूछा होता कि यह सब तो, भाई, ठीक है, पर तुमने मुझे पलँग पर क्यों बिठा दिया ? तो इसके उत्तर में हनुमानजी ने कहा होता—महाराज, इसलिए बिठाया कि जीव की नींद टूट जाय। बड़ी गहरी नींद आ रही है और हम सोने के लिए कमरे में गये। देखा कि कौने में एक साँप है। क्या नीद आएगी ? सारी नींद काफूर हो जायगी। और कोने की बात छोड़िए, कोई यदि पलँग पर साँप देख ले, तो क्या दशा हो ? फिर जब पलँग पर हजार सिरवाला साँप बैठा हो, तो क्या कोई सोने की कल्पना भी कर सकता है ? हनुमानजी का तात्पर्य यह है कि जब तक जीव काल के सत्य को भूले हुए है, तब तक भले वह सोया रहे, पर काल के स्वरूप को पहचानने के बाद वह कभी सो नहीं सकता। वह अपने घमण्ड के कारण ही काल को अनदेखा कर देता है। गोस्वामीजी लिखते हैं–

लघु जीवन संबतु पंच दसा।
कलपांत न नास गुमानु असा।। ७।१०१।४

—'मनुष्य का दस-पाँच वर्ष का थोड़ासा जीवन है, परन्तु घमण्ड ऐसा है, मानो कल्पान्त होने पर भी उसका नाश नहीं होगा।' ईश्वर के द्वारा प्रेरित काल जीव को झकझोरता है, उसके घमण्ड पर प्रहार करता है, उसे चैतन्य करता है और ईश्वर की ओर ले जाता है। हम देखते हैं कि लक्ष्मणजी सुग्रीव को लेकर भगवान् राम के पास आते हैं और फिर से मैत्री का सूत्र बाँध देते हैं। उसके पश्चात् सुग्रीव के जीवन में प्रमाद और आलस्य का कोई प्रसंग नहीं आता। तो, लक्ष्मणजी अपनी कठोर भूमिका के द्वारा, काल के द्वारा जीव को चैतन्य करके प्रभु की ओर ले जाते हैं। यह काल कभी क्रूरता से, तो कभी कठोरता से, व्यक्ति को झकझोरकर जीवन के सत्य का साक्षात्कार करा देता है। जब व्यक्ति एक बार काल को सही अर्थ में पहिचान लेता है, तो उससे डरता नहीं, बल्कि उसे प्रभु के मंगलमय संकेत के रूप में ग्रहण करता है। हम ईश्वर को आज भले ही न देख सकते हों, पर काल तो दिखायी पड़ ही रहा है। जीवन में सतत घटने वाले परिवर्तन को भला कौन नहीं देख पाता ? काल को देखते हुए भी जब व्यक्ति उन्मत्त होकर उसकी अवहेलना करता है, विस्मृति करता है, तो प्रभु लक्ष्मणजी को प्रेरित करते हैं। यही लक्ष्मणजी की भूमिका है।

एक प्रसंग आता है। भगवान् राम समुद्र के किनारे अनशन कर रहे हैं। रावण उनकी सेना का भेद लेने गुप्तचर भेजता है। रावण के यहाँ तो बड़ा कड़ा प्रबन्ध है। एक मच्छर भी उसकी आज्ञा के बिना लंका में नहीं बैठ सकता। हनुमानजी मच्छर जैसा छोटा रूप बनाकर लंका के भीतर घुसने की चेष्टा करते हैं, तो पकड़े जाते हैं। पर भगवान् राम की सेना में वैसा कोई कड़ा प्रबन्ध नहीं दिखता रावण के दो

गुप्तचर आये और कई दिनों तक श्री राम की सेना में बने रहे । ऊपर से ऐसा अवश्य लगता है कि श्री राम का प्रबन्ध शिथिल है और रावण का सुदृढ़ । पर आन्तरिक तात्पर्य यह है कि रावण डरता है कि कोई उसका भेद न ले जाए, जबकि भगवान् राम चाहते हैं कि कोई भेद लेनेवाला आए तो । जिसमें कमी होती है, वह भेद खुलने के नाम से डरता है, पर जिसमें कमी नहीं होती, उसे भला किसका डर ? वह तो चाहता ही है कि आकर कोई भेद ले ले । परिणाम यह हुआ कि रावण के जो गुप्तचर श्री राम का भेद लेने आये थे, वे कई दिनों तक श्री राम के पास बने रहे । भगवान् के सान्निध्य के प्रभाव से उनका कपट छूट गया और वे श्री राम से रावण की तुलना करने लगे--

प्रगट बखानहिं राम सुभाऊ ।
अति सप्रेम गा बिसरि दुराऊ ।। ५।५१।१

पास के बन्दरों ने उनकी आपस को बातचीत सुन ली और वे समझ गये कि ये रावण के गुप्तचर हैं । वे दोनों को बाँधकर सुग्रीव के पास ले गये । सुग्रीव ने आज्ञा दी—'**अंग भंग करि पठवहु निसिचर (५।५१।३)**—इन राक्षसों के नाक-कान काट-कर भेज दो ।

जीव का स्वभाव बड़ा विचित्र है । वह अपने लिए तो कृपा चाहता है, पर दूसरे के लिए न्याय । सुग्रीव अपना अपराध भूल गये—बिसर गये कि उन्होंने भी त्रुटि की थी, पर प्रभु ने अपनी कृपा से उन्हें क्षमा प्रदान कर दिया था । वे इन गुप्तचरों को दण्ड देने की आज्ञा देते हैं और कहते हैं कि जब तक प्रभु अनशन में बैठे हुए हैं, उस बीच इन्हें दण्ड देने का कार्य सम्पन्न कर लो; क्योंकि सुग्रीव को डर है कि यदि प्रभु आ गये, तो वे इतने उदार हैं कि इन राक्षसों को छोड़ने की ही आज्ञा दे देंगे । सुग्रीव नीति का आश्रय लेते हैं और कहते हैं कि नीति में शत्रु के गुप्तचरों को छोड़ने की भला कहाँ बात है, उन्हें क्षमा भला कैसे दी जा सकती है ? इधर गुप्तचर श्री राम की दोहाई देते हुए छोड़ दिये जाने की प्रार्थना करते हैं । वे कहते हैं—'जब तक हम सचमुच कपटी थे, छद्मवेश में आप लोगों के बीच घुसे हुए थे, तब तक तो आप हमें नहीं पकड़ पाये, और अब जब श्री राम के स्वभाव के द्वारा हममें परिवर्तन आ गया, हमने अपना कपट छोड़ दिया, तो आप हमें दन्ड दे रहे हैं । यह तो आप बड़ा अन्याय कर रहे हैं ।' वे दीन होकर पुकारते हैं—'**दीन पुकारत तदपि न त्यागे**' **(५।५१।५)** । फिर भी बन्दर उन्हें नहीं छोड़ते । लक्ष्मणजी दूर से यह दृश्य देख रहे थे । उन्होंने बन्दरों से कहा—उन राक्षसों को मेरे पास ले आओ । सुग्रीव प्रसन्न हुए सोचा—लक्ष्मणजी तो बड़े कठोर हैं मैंने तो केवल इनके नाक-कान काटने की ही बात कही है, शायद वे उन्हें सीधा प्राणदण्ड दे दें । पर उन्हें यह देख बड़ा आश्चर्य हुआ कि लक्ष्मणजी ने दोनों को छुड़ा दिया—

सुनि लछिमन सब निकट बोलाए ।
दया लागि हँसि तुरत छोड़ाए ।। ५।५१।७

फिर लक्ष्मणजी ने राक्षसों को एक पत्र दिया और कहा—**रावन कर दीजहु यह पाती'** (५।५१।८)—रावण के हाथ में यह चिट्ठी दे देना । यह रावण के नाम काल का सन्देशा था । जो रावण अपने को काल का विजेता, काल का स्वामी मानता है, आज काल उसके पास अपनी पाती भेज रहा है और कह रहा है—

बातन्ह मनहि रिझाइ सठ जनि घालसि कुल खीस ।
राम विरोध न उबरसि सरन विष्नु अज ईस ।। ५।५६(क)
की तजि मान अनुज इव प्रभु कज भृंग ।
होहि कि राम सरानल खल कुल सहित पतंग ।।५।५६(ख)

—अरे मूर्ख ! केवल बातों से ही मन को रिझाकर अपने कुल को नष्ट-भ्रष्ट न कर । श्री राम से विरोध करके तू विष्णु, ब्रह्मा और महेश की शरण जाने पर भी नहीं बचेगा । या तो अभिमान छोड़कर अपने छोटे भाई विभीषण की भाँति प्रभु के चरणकमलों का भ्रमर बन जा, अथवा रे दुष्ट ! श्री राम के बाणरूपी अग्नि में परिवार सहित पतिंगा हो जा ।

यही काल का सन्देशा है । काल हमारे नाम की अपनी पाती भेजता है, पर हम उसे पहिचान नहीं पाते । रावण भी काल के सन्देश की उपेक्षा करता है और विनाश को प्राप्त होता है । इधर जब भगवान् राम अनशन समाप्त कर लौटे तो उन्हें सारी घटना का पता चला । उन्होंने हँसकर लक्ष्मणजी को हृदय से लगा लिया और कहा,"लक्ष्मण, आज तुम पकड़े गये । तुम कहने को तो कठोरता का स्वाँग करते हो, पर मेरे न रहने पर वही करते हो जो मैं करता !" इसका तात्पर्य यह है कि भगवान् राम जिस सिद्धान्त के पक्षधर हैं, श्री लक्ष्मण भी उसी के पक्षधर हैं । अन्यथा वे चाहते तो रावण के गुप्तचरों को दण्ड दे सकते थे, पर वे तो जीव को ईश्वर के समीप पहुँचाना चाहते हैं, उससे दूर करना नहीं । यही उनकी भूमिका है, फिर इसके लिए चाहे उन्हें कठोर होकर जीव के हृदय में भय की सृष्टि करनी पड़े, अथवा सदय होकर प्रीति की ।

—

तृतीय व्याख्यान

भगवान् श्री राम की लीला में लक्ष्मणजी की जो भूमिका है, उस पर हम आज विचार करेंगे। श्री राम के साथ श्री लक्ष्मण की आवश्यकता को सबसे पहले जिस महापुरुष ने समझा, वह हैं महर्षि विश्वामित्र। बाल्यावस्था की लीला के बाद जब श्री राम की लीला का मुख्य कार्य प्रारम्भ होता है, तो उसमें मुख्य सूत्रधार महर्षि विश्वामित्र बनते हैं। वे जब महाराज श्री दशरथ के पास आते हैं, तो उनसे श्री राम की माँग करते हुए महर्षि कहते हैं—

'अनुज समेत देहु रघुनाथा' (१।२०६।१०)। वे अकेले श्री राम को नहीं चाहते, चारों भाईयों को भी नहीं चाहते, वे तो बस लक्ष्मणजी की माँग श्री राम के साथ करते हैं। और यही वह सूत्र है, जो श्री लक्ष्मण की भूमिका को समझने के लिए आवश्यक है।

भगवान् श्री राम ने दो महापुरुषों से शिक्षा प्राप्त की—एक हैं गुरु वसिष्ठ और दूसरे हैं विश्वामित्र। दोनों महर्षियों में अन्तर यह है कि श्री विश्वामित्र ने श्री लक्ष्मण की उपयोगिता को ठीक ठीक जाना था। गोस्वामी तुलसीदासजी ने लक्ष्मणजी की तुलना सोन नदी से की है। 'मानस के प्रारम्भ में वे नदियों का रूपक प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—

रामभगति सुरसरितहि जाई।
मिली सुकीरति सरजु सुहाई॥
सानुज राम समर जसु पावन।
मिलेउ महानदु सोन सुहावन॥ १।३९।१-२

—'सुन्दर कीर्तिरूपी सुहावनी सरयूजी रामभक्तिरूपी गंगाजी में जा मिलीं। छोटे भाई लक्ष्मण सहित श्री राम जी के युद्ध का पवित्र यशरूपी सुहावना महानद सोन उसमें आ मिला।' यह बड़ा विचित्र रूपक है। गोस्वामी जी इस रूपक के द्वारा विश्वामित्र और वसिष्ठ का अन्तर हमारे समक्ष रखना चाहते हैं।

हम वसिष्ठ और विश्वामित्र की तुलना हिमालय और विन्ध्य से कर सकते हैं। वसिष्ठ हिमालय के समान हैं, जहाँ से गंगा निकलती है और विश्वामित्र विन्ध्यपर्वत के समान हैं, जहाँ से सोन का प्रादुर्भाव होता है। हिमालय और विन्ध्याचल दो

प्रवृत्तियों के संकेत हैं। आपने विन्ध्याचल की प्रसिद्ध कथा सुनी होगी। विन्ध्याचल बड़ा महत्त्वाकांक्षी है। हिमालय में सत्वगुण की प्रधानता है, पर विन्ध्याचल में सत्वगुण के साथ रजोगुण की प्रवृति समाहित है। आप विचार करने पर वसिष्ठ और विश्वामित्र इन दो महापुरुषों में यही अन्तर पाएँगे। वसिष्ठ में सत्त्वगुण की प्रधानता है, जब कि विश्वामित्र के जीवन में सत्वगुण के साथ रजोगुण भी है। प्रश्न उठता है कि समाज के सुधार के लिए सत्त्वगुण की आवश्यकता है, अथवा रजोगुण की? गोस्वामीजी इसके उत्तर में एक बड़ा ही मनोवैज्ञानिक दार्शनिक स्वरूप प्रस्तुत करते हैं। वे कहते हैं कि जहाँ व्यक्ति के जीवन में स्वंय के निर्माण का, शान्ति का प्रश्न है, वहाँ तो सत्वगुण की आवश्यकता है, पर जहाँ व्यक्ति को समाज के लिए संघर्ष करना हो समाज का निर्माण करना हो, वहाँ अकेला सत्वगुण कुछ नहीं कर सकता, उसके साथ रजोगुण का भी होना आवश्यक है। यदि सत्वगुण के साथ रजोगुण की प्रवृत्ति न हो, तो संसार के संघर्षों का सामना नहीं किया जा सकता। सत्त्वगुणी व्यक्ति स्वभावतः विचारप्रधान होता है और रजोगुणी व्यक्ति क्रिया-प्रधान। सत्वगुणी व्यक्ति अपने आप में डूबा हुआ निश्चिन्त रहता है, उसे झगड़े झंझट से कोई सरोकार नहीं होता। पर जब हमें संसार में रहना है, तब संघर्षों को अस्वीकार कैसे कर सकते हैं? यह संघर्ष की वृत्ति रजोगुण की देन है, सत्त्वगुण की नहीं। अतएव भगवान् राम को विश्व के संघर्षमय रंगमंच पर लाने वाले विश्वामित्र ही हो सकते हैं, वशिष्ठ नहीं। वशिष्ठ भले ही भगवान् राम को व्यक्तिगत रूप से शिक्षा दे सकते हैं, पर श्री राम को लोक-रंगमंच पर लाकर संसार के समक्ष उनका परिचय देने का कार्य तो विश्वामित्र ही कर सकते हैं। वशिष्ठ को रावण द्वारा किये जा रहे अत्याचार की चिन्ता नहीं, वे तो अपने आनन्द में, अपने त्याग और तपस्या में डूबे हुए हैं। वे सोचतें हैं कि अयोध्या में तो रावण का प्रवेश है नहीं, अतः सत्त्वगुणी मुनि को इस सम्बन्ध में अधिक विचार करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। इसीलिए उनकी तुलना हिमालय से की गयी है, जो बर्फ से ढका हुआ है अर्थात् जो शुद्ध सत्त्व का प्रतीक है। पर विश्वामित्र बड़े महत्वाकाँक्षी हैं, अतएव उनकी विन्ध्याचल से तुलना बिल्कुल ठीक है।

विन्ध्याचल की वह कथा प्रसिद्ध है। उसने सूर्य से कहा कि तुम मेरी परिक्रमा करो। जब सूर्य ने अस्वीकार कर दिया तो विन्ध्याचल ने चेतावनी दी कि यदि तुम मेरी परिक्रमा नहीं करोगे तो मैं इतना ऊपर उठूँगा कि तुम्हारा प्रकाश अवरुद्ध हो जायगा। यह बड़ी सांकेतिक गाथा है। यही महत्वाकांक्षा आप विश्वामित्र के जीवन में पाएँगे। जैसे विन्ध्य ऊपर उठने की चेष्टा करता है, वैसे ही विश्वामित्र भी क्षत्रिय से ब्राह्मण बनने की चेष्टा करते हैं। उसमें होड़ की भावना पैदा होती है कि यदि वसिष्ठ ब्रह्मर्षि होने के नाते जगत्पूज्य हैं, तो मैं भी अपनी त्याग-तपस्या और साधना के द्वारा

ऊपर उठ सकता हूँ । और सचमुच, एक दिन वे अपनी तपस्या के बल पर प्रचलित परम्परा को परिवर्तित करते हुए क्षत्रिय से ब्राह्मण बनकर उसी जन्म में ब्रह्मर्षि का पद प्राप्त कर लेते हैं । यह जो रजोगुणी की महत्त्वाकांक्षा है, उसे सही दिशा कब मिलती है ? यदि व्यक्ति केवल अपने लिए संघर्ष करेगा, तब तो उसकी महत्वा-कांक्षा केवल संघर्ष की सृष्टि करेगी और समाज के निर्माण में उसकी कोई भूमिका नहीं रहेगी , पर यदि वह महत्वाकांक्षा आत्म निर्माण के साथ साथ लोक कल्याण की दिशा में भी उन्मुख हो सके, तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि रजोगुणी प्रवृति का सदुपयोग हो सकता है । ऐसी दशा में सत्त्वगुणी की अपेक्षा जिसमें सत्त्व और रज का मिश्रण हो ऐसा व्यक्ति अधिक काम का हो सकता है । हम पढ़ते हैं कि विन्ध्याचल ऊपर उठता रहा । देवता और मुनि भयभीत हो गये । उन्होंने अगस्त से प्रार्थना की कि महाराज, आप किसी प्रकार विन्ध्याचल को रोकिए । विन्ध्याचल अगर रजोगुणी होता, तो वह किसी की बात नहीं मानता, पर उसमें सत्त्वगुण और रजोगुण दोनों का मिश्रण है । इसीलिए जब अगस्त्य सामने आते हैं, तो वह साष्टांग प्रणाम करता है । यह उसकी सत्त्वगुणी प्रवृति का द्योतक है । वह बढ़ना तो चाहता है, उसमें अहंकार तो है, पर महापुरुषों के समक्ष उसका वह अहंकार प्रकट नहीं होता । सन्तों के सामने अपने अहंकार को वह दबाकर रखता है । हम समाज में चाहे जितने बड़े क्यों न हों, पर यदि हममें सत्त्वगुण है, तो सन्तों के सामने हम झुकेंगे ही । सत्त्व की प्रवृति मनुष्य को झुकाती है । तो विन्ध्याचल ने महर्षि अगस्त्य को प्रणाम करके पूछा—मेरे लिए क्या आज्ञा है ? महर्षि ने कहा—तुम इसी प्रकार तब तक पड़े रहो जब तक कि मैं लौटकर न आऊँ । और कहा जाता है कि महर्षि अगस्त्य दक्षिण भारत में जाकर बस गये, वहाँ से लौटे ही नहीं और तब से विन्ध्याचल पड़ा ही रहा । यह बड़ी सार्थक बात है । विन्ध्याचल अहंकार की, लोकैषणा की तीव्र प्रवृति से परिचालित होकर ऊपर उठ रहा था और उसका लक्ष्य था सूर्य के प्रकाश को रोक देना । रजोगुणी व्यक्ति यही चेष्टा करता है कि सूर्य मेरे चारों ओर चक्कर काटे, प्रकाश मेरे इर्द गिर्द चले, जितनी चमक मेरे चेहरे के आस पास हो उतनी और किसी के पास न आ पाए । और यदि उसके चेहरे के आस-पास प्रकाश न होगा, तो वह दूसरों को भी प्रकाश से बंचित करने की चेष्टा करेगा । ऐसी ही विन्ध्याचल की भी इच्छा है, पर उसमें जो सत्त्वमयी प्रवृति, है वही उसे सन्त के समक्ष झुकने के लिए प्रेरित करती है । और सचमुच उसकी सत्त्वगुणी प्रवृति रजोगुणी प्रवृति पर विजयी हो गयी, क्योंकि अगस्त्य नहीं लौटे और विन्ध्याचल पड़ा ही रहा । लोगों ने उससे कहा विन्ध्याचल, कब तक पड़े रहोगे ? सन्त तो तुम्हें बहाना बनाकर झुकाकर चला गया, अब वह लौटकर नहीं आएगा । पर विन्ध्याचल ने कहा—मैंने सन्त को वचन दिया है, मैं प्रतीक्षा करुँगा ।

'रामचरितमानस' में संकेत आता है कि जब भगवान राम अयोध्या छोड़कर चले, तो वे दक्षिण में विन्ध्याचल की ओर जाते हैं। वे तो हिमालय की ओर भी जा सकते थे। पर वे बड़े पर्वत की तुलना में छोटे पर्वत का चुनाव करते हैं। वे अपने निवास स्थान के लिए चित्रकूट को चुनते हैं। चित्रकूट विन्ध्याचल का ही एक शिखर है। जब विन्ध्याचल ने भगवान राम को अपनी ओर आते देखा, तो उसे बड़ी प्रसन्नता हुई। गोस्वामीजी लिखते हैं—

विंधि मुदित मन सुखु न समाई।
श्रम बिनु बिपुल बड़ाई पाई॥ २।१३७।८

उसने सोचा कि मैं तो चाहता था कि सूर्य मेरी परिक्रमा करे, पर अब जब कोटि-कोटि सूर्यों का केन्द्र ईश्वर ही मेरी परिक्रमा करेगा, तब मुझसे बढ़कर सौभाग्यशाली और कौन होगा! सन्त के सामने झुककर मैंने खोया नहीं, बल्कि पाया ही पाया है। जब श्री राम आये और उन्होंने कामदगिरि, चित्रकूट आदि की परिक्रमा की, तो विन्ध्य को ऐसा लगा कि आज मेरे जीवन की सार्थकता हो गयी। तात्पर्य यह है कि जब रजोगुणी प्रवृत्ति सत्त्वगुणी प्रवृत्ति से मिलकर सन्त के समक्ष नत होती है, तब अन्त में सही दिशा प्राप्त करती है और ईश्वर की प्राप्ति कर धन्यता का अनुभव करती है। तो, भले ही वैयक्तिक निर्माण के लिए सत्त्वगुणी प्रवृत्ति की आवश्यकता है, लेकिन लोककल्याण की, संघर्ष की प्रेरणा तो वही देगा, जिसमें सत्त्वगुण और रजोगुण का मिश्रण है। गोस्वामीजी ने सोन नद का जो रूपक दिया, उसका विशेष कारण है। वे एक बड़ी काव्यमयी कल्पना करते हैं। यदि आप सोन के जल को देखें, तो उसका रंग कुछ लाल दिखेगा, और वह गंगा के जल में आकर एकाकार हो जाता है। युद्ध में तो रक्त ही बहता है। तो, लहू का रंग लाल और सोन नद का जल लाल। इसीलिए जब युद्ध की तुलना देनी पड़ी, तो उन्होंने सोन की कल्पना की। उन्होंने उक्त चौपाई के माध्यम से संकेत दिया कि लक्ष्मणजी की भूमिका युद्ध की है और विश्वामित्र पहले प्रेरक व्यक्ति हैं, जो श्री राम को युद्ध की दिशा में ले जाते हैं। वसिष्ठजी के आश्रम में रहकर भगवान राम ने शस्त्र और शास्त्र दोनों की शिक्षा प्राप्त तो की, पर शस्त्रों के उपयोग की प्रेरणा तो महर्षि विश्वामित्र ही देते हैं, जिनके अन्तःकरण में सत्त्वगुण के साथ रजोगुण का मिश्रण है और जो क्षत्रिय से ब्राह्मण बनते हैं।

प्रश्न उठता है कि क्या क्षत्रिय से ब्राह्मण बनने से विश्वामित्र की समस्या का समाधान हो गया? उत्तर में कहा जा सकता है कि एक सीमा तक तो समाधान हुआ, पर उसके बाद उसमें भी उन्हें कमी का ज्ञान हुआ। उन्होंने वसिष्ठ के साथ युद्ध करके शस्त्र की व्यर्थता का अनुभव किया। जब उन्होंने वसिष्ठ पर शस्त्रों का

प्रयोग किया, तो वसिष्ठ के ब्राह्मतेज के सामने उनके शस्त्र प्रभावशाली सिद्ध नहीं हुए। इससे उन्होंने निष्कर्ष निकाल लिया कि क्षात्रतेज व्यर्थ है और ब्राह्मतेज ही सब कुछ है 'धिक बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजो बलं बलम्'। और वे निर्णय करते हैं कि शस्त्र की आवश्यकता नहीं है, अहिंसा की आवश्यकता है—रजोगुण की आवश्यकता नहीं है, सत्त्वगुण की आवश्यकता है; इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह हिंसा के स्थान पर अहिंसा का वरण करे। पर क्या अहिंसा से, सत्त्वगुण की वृति से, ब्राह्मणत्व के अंगीकार से विश्वामित्र की समस्या मिटी ? नहीं मिटी। वे तप करके ब्राह्मण तो बन गये, पर जब वे यज्ञ करते हैं, तो राक्षस आकर विघ्न डालते हैं, यज्ञ का ध्वंस कर डालते हैं। विश्वामित्र ने तो शस्त्र का त्याग कर दिया है, वे शस्त्र उठायें कैसे ? और तब उन्हें लगता है कि अहिंसा में शक्ति नहीं जो कि हिंसा को रोक सके। वे जीवन में सत्त्वगुण के साथ रजोगुण की आवश्यकता का अनुभव करते हैं। और सत्य तो यह है कि रजोगुण के साथ तमोगुण की भी आवश्यकता है पर यह सावधानी रहे कि तीनों का उचित मात्रा में मिश्रण हो। तीनों में किसी एक के अभाव से जीवन की गाड़ी चल नहीं सकती। यदि रजोगुण न हो, तो हम कर्म कैसे करेंगे ? तमोगुण न हो, तो रात में हम सो कैसे पाएँगे ? और यदि हमारे जीवन में सत्त्वगुण न हो, तो कार्य-कारण की परम्परा का विचार करते हुए हम ईश्वर की ओर बढ़ कैसे पाएँगे ? रात को नींद हमें तमोगुण की कृपा से आती है। दो प्रकार के लोगों को कम नींद आती है। एक तो वे, हैं जो ईश्वर या दर्शन का बहुत विचार करते हैं और दूसरे वे हैं जो सोते हुए भी कर्म का चिन्तन करते रहते हैं। तो, तमोगुण की भी जीवन में अपेक्षा है, पर आवश्यक यह है कि उचित समय में उचित वस्तु आए—प्रातःकाल पूजा के समय सत्त्वगुण आए, कर्म करते समय रजोगुण आए और पलंग में तमोगुण। पर यदि कथा में तमोगुण आ जाय, कथा सुनते समय नींद आने लगे, या रास्ता चलते दर्शन का चिन्तन होने लगे, अपने कार्यालय में काम करते समय ईश्वर का विवेचन चलने लगे, तब न तो कथा सुनने का महत्त्व रह जाता है, न कर्म करने का। कथा-श्रवण और कर्म दोनों चौपट हो जाते हैं। यदि ईश्वर का ध्यान करते समय कहीं नींद घेर ले, या कर्म का चिन्तन चलने लगे कि आज क्या-क्या करना है तो ऐसा तमोगुण या रजोगुण जीवन में हानि की ही तो सृष्टि करेगा। इसलिए प्रत्येक गुण को समय से आने की आवश्यकता है।

तो, विश्वामित्र ब्राह्मण बनकर भी अपनी समस्या का समाधान नहीं कर पाते। वे राक्षसों से अपने यज्ञ की रक्षा नहीं कर पाते। उन्हें लगता है कि हिंसा और अहिंसा के संघर्ष में हिंसा विजयी होती है। ऐसा क्यों ? इसका कारण यह है कि अहिंसा को तो अपनी विजय के लिए पूर्णता की आवश्यकता है, जबकि हिंसा को अपनी विजय के लिए पूर्णता की आवश्यकता नहीं है। और अहिंसा की पूर्णता बहुत

कठिन है, जबकि हिंसा की पूर्णता बहुत सरल। जैसे घी की शुद्धि के लिए उसमें एक कण भी मिलावट नहीं चाहिए। यदि एक तोला भी मिलावटी घी सौ किलो शुद्ध घी में मिला दिया जाए, तो वह सारा शुद्ध घी मिलावटी ही हो जाएगा। यह शुद्ध घी की बाध्यता है, पर मिलावटी घी के लिए ऐसी कोई बाध्यता नहीं। इसी लिए अहिंसा की पूर्णता अत्यन्त कठिनाई से सधती है। और यदि अहिंसा में हिंसा की तनिक भी मिलावट रही, तो दोनों की टकराहट में हिंसा विजयी हो जाती है। विश्वामित्र के सामने शास्त्र-बल भी था और शस्त्र-बल भी, अहिंसा की भी शक्ति थी और हिंसा की भी। उनके मन में प्रश्न उठता है कि राजा रहना ठीक है या ब्राह्मण होना। रावण इस समस्या का उत्तर अपने ढंग से देता है–वह राजा भी था और ब्राह्मण भी, पर वह ब्राह्मतेज और शस्त्रतेज दोनों का दुरुपयोग करता है। वह अपार विद्वान् है, वह तपस्या करता है, तपस्या के द्वारा शक्ति प्राप्त करता है। और उसके साथ शस्त्रों की शक्ति का दुरुपयोग भी करता है। तब विश्वामित्र को लगता है कि रावण के रूप में सत्त्वगुण और रजोगुण दोनों का दुरुपयोग करने वाली जिस नयी दुष्प्रवृत्ति का जन्म हुआ है, उसका उत्तर देने की शक्ति मेरे पास नहीं है, क्योंकि मैंने शस्त्र का परित्याग कर शास्त्र ग्रहण कर लिया है। और यदि रावण को परास्त करना है, तब तो पुनः शस्त्र ग्रहण करना पड़ेगा, फलस्वरूप सत्वगुण पर रजोगुण की विजय हो जायगी। यह सोचकर विश्वामित्र को दुःख होता है कि कहाँ मैंने ब्राह्मणत्व स्वीकार कर लिया। वे मानो अब पश्चात्ताप करते हैं कि ईश्वर की इच्छा के अनुरूप मैंने कार्य न कर बड़ी भूल की है। ईश्वर भी विचित्र खेल खेलता है! विश्वामित्र ब्राह्मणत्व को क्षत्रियत्व से श्रेष्ठ मानकर अपना क्षत्रियत्व त्याग देते हैं और ब्राह्मण बन जाते हैं। पर जिस ब्रह्म की प्राप्ति के लिए वे क्षत्रिय से ब्राह्मण बनते हैं, वह जब सगुण रूप धारण करता है, तब किसके यहाँ जन्म लेता है?—राजा दशरथ के यहाँ, एक क्षत्रिय के यहाँ। और जिसे मारने के लिए निर्गुण-निराकार ब्रह्म सगुण-साकार होता है, वह कहाँ पैदा होता है? एक ब्राह्मण के यहाँ! **'उत्तम कुल पुलस्ति कर नाती'** (६।१९।३)। तो कौन श्रेष्ठ—ब्राह्मण या क्षत्रिय? मारनेवाला या मारा जानेवाला? यही ईश्वर का खेल है। इसीलिए विश्वामित्र को लगा कि—

गाधितनय मन चिंता व्यापी।
हरि बिनु मरहिं न निसिचर पापी॥ १।२०५।५

— ये पापी राक्षस भगवान् के बिना मारे नहीं मरेंगे। और तब वे श्री राम को पाने की योजना बनाते हैं और उनके जीवन में सन्तुलन आ जाता है। जब वे क्षत्रिय थे, तब असन्तुलित थे और जब क्षत्रिय से ब्राह्मण बन गये, तब भी असन्तुलित रहे। पर अब जब उन्होंने निश्चय कर लिया कि ईश्वर को पाना है, तो जीवन में सन्तुलन आ गया। वे नेत्र मूँदकर सोचने लगे की ईश्वर है कहाँ? उन्होंने पाया कि अयोध्या के

राजमहल में उसका अवतार हो गया है। अब विचार कीजिए विश्वामित्र को कैसा लगा होगा, जब उन्होंने देखा कि मैं तो क्षत्रिय से ब्राह्मण बना और ईश्वर ने जन्म लेने के लिए क्षत्रिय का घर चुना ! उन्हें लगा कि यदि इसकी कल्पना मुझे होती, तो व्यर्थ ब्राह्मण बनने का प्रयास क्यों करता ? विश्वामित्र ने जाति के आधार पर बड़प्पन पाने का प्रयास किया, पर ईश्वर ने क्षत्रिय के यहाँ जन्म लेकर मानो बता दिया कि मुझे पाने के लिए जाति बदलना आवश्यक नहीं है। और तब ब्राह्मण बने हुए विश्वामित्र क्षत्रिय के घर जाते हैं। पहले वे राज्य छोड़कर जंगल गये और अब उन्हें जंगल से पुनः राजा के पास जाना पड़ रहा है। और केवल यही नहीं, उन्हें ऐसे क्षत्रिय के पास जाना पड़ रहा है, जिसके आचार्य वसिष्ठजी हैं ! प्रभु बड़े कौतुकी हैं। वे जानते हैं कि विश्वामित्र और वसिष्ठ इन दोनों महापुरुषों में टकराहट है। महापुरुषों के बीच संगठन के इस अभाव में लंका के दुर्गुण समाज पर अत्याचार करते हैं, क्योंकि ये दुर्गुण संगठित हैं। इन दुर्गुणों के नाश के लिए महापुरुषों को जोड़ना अभीष्ट है। इसीलिए प्रभु विश्वामित्र को महाराज दशरथ के यहाँ लाकर वसिष्ठजी से मिला देते हैं।

भगवान् राम ने दो गुरु बनाये—एक थे वशिष्ठ दूसरे थे विश्वामित्र। श्री राम दोनों की भूमिका जानते हैं। वे दोनों को मिलाकर सिद्ध करना चाहते हैं कि समाज के लिए दोनों की आवश्यकता है। बाल्यावस्था से अब तक उन्होंने जो शिक्षा पायी है वह वसिष्ठ से प्राप्त की है। पर उस शिक्षा के उपयोग की आवश्यकता का अनुभव विश्वामित्र को होता है। इसी के माध्यम से प्रभु विश्वामित्र को अपनी ओर खींचते हैं। वे मानों यह संकेत देते हैं कि मुनि, अब आपको महत्वाकाँक्षा का गलत मार्ग छोड़कर मेरी ओर आना होगा, मुझे माँगना होगा, वशिष्ठ से समझौता करना होगा। होता भी यही है। विश्वामित्र आते हैं और महाराज दशरथ से दोनों भाइयों की माँग करते हैं। उनका काम केवल श्री राम को माँगने से क्या नहीं बन सकता था ? वे राजा से केवल श्री राम को माँग सकते थे ? फिर लक्ष्मणजी को साथ में क्यों माँगते हैं ? इसका उत्तर संकेत के रूप में पूर्व में दिया जा चुका है। लक्ष्मणजी में संघर्ष की जो तीव्र प्रवृत्ति है, उसकी चर्चा विरोधाभास के रूप में की जा चुकी है। भगवान् राम में संघर्ष की प्रवृत्ति का अभाव है, वे बड़े सौम्य हैं, शान्त हैं, जब कि लक्ष्मण जी में रजोगुण की, तीव्र संघर्ष की प्रवृत्ति विद्यमान है, जो आवेश के रूप में दिखायी देती है। इस तथ्य को विश्वामित्र से अधिक कोई नहीं जानता था कि अकेले राम कुछ भी नहीं कर पाएँगे जब तक कि लक्ष्मणजी उनके साथ न हों। लक्ष्मणजी विश्वामित्र के ही परिष्कृत रूप हैं। अन्तर इतना है कि विश्वामित्र का जो रजोगुण है, वह व्यक्तिगत महत्वाकाँक्षा की पूर्ति का साधन है, जबकि लक्ष्मणजी के जीवन में दिखायी देने वाला तीव्र रजोगुण और अहंकार वस्तुतः अहंकार न होकर भगवान् राम के कीर्तिध्वज के लिए डण्डे की तरह है, डण्डा यदि अकेला खड़ा रहे, तो

अहंकार का प्रतीक है, पर जब वह झण्डे को उठाने के लिए खड़ा हो—अपने को उठाने के लिए नहीं, तब तो वह समर्पण का ही प्रतीक है। ऐसी दशा में वह झण्डे का गौरव ही बढ़ाता है, उसे चमकाता है। इसलिए चतुर विश्वामित्र यह अनुभव करते हैं कि श्री राम से अकेले काम नहीं बनेगा, उनके साथ प्रेरक के रूप में श्री लक्ष्मण को ले जाना पड़ेगा। हमें विश्वामित्र के चुनाव की प्रशंसा करनी पड़ेगी। उन्होंने श्री राम के साथ श्री भरत को नहीं माँगा। वैसे तो दोनों एक-जैसे दिखायी देते हैं, उन दोनों को माँग लेने से बढ़िया चुनाव रहता। और ऐसे प्रस्ताव बाद में आये भी कि श्री राम और श्री भरत की जोड़ी अच्छी रहेगी। हम अयोध्या काण्ड में पढ़ते हैं कि कौशल्या अम्बा जनक जी के पास सुनयना के माध्यम से प्रस्ताव भेजती हैं कि जब राम ने वन में रहने का निश्चय कर लिया है, तो रहे, पर साथ में भरत को ले ले और लक्ष्मण को लौटा दे। ऐसा क्यों ? कौशल्या अम्बा का कथन था कि—

गूढ़ सनेह भरत मन माहीं।
रहें नीक मोहि लागत नाहीं॥ २।२८३।४

—भरत के मन में गूढ़ प्रेम है। उनके घर रहने में मुझे भलाई नहीं जान पड़ती। संकोच के मारे वह भले ही कुछ न कहे, पर यदि राम ने लक्ष्मण को साथ लिया और उसे छोड़ दिया तो उसे बड़ा दुःख होगा। जनकजी ने यह प्रस्ताव श्रीराम के समक्ष रखा भी; यही नहीं भरत ने स्वयं यह प्रस्ताव श्री राम के सामने रखते हुए कहा—प्रभु, यदि आप चाहें तो, मैं साथ चला चलूँ और लक्ष्मणजी लौट जायँ या यदि आप कहें तो हम तीनों भाई वन चले जायँ और आप सीताजी के साथ अयोध्या लौट जायँ। पर भगवान् राम ने भरत को साथ रखना स्वीकार नहीं किया। किन्तु इसके कारण श्री भरत की महानता में कोई अन्तर नहीं पड़ जाता। भरत को साथ न लेने का कारण भिन्न है। भगवान् राम जानते हैं कि भरत महान् हो सकते हैं, पर वे श्री राम के साथ रहकर उनके कार्य में सहायक नहीं हो सकते। इसका कारण यह है कि श्री राम और श्री भरत बिल्कुल एक जैसे हैं। किसी नीतिकार ने लिखा है—**'समानशीलव्यसने सुसख्यम्'**—'समान शील और व्यसन में मित्रता होती है', पर मेरी दृष्टि में यह वाक्य कोई बहुत संगत नहीं। मैं इसमें थोड़ा संशोधन करना चाहूँगा। समान व्यसन में तो मित्रता हो सकती है, एक जैसी आदत के लोगों में मित्रता हो सकती है, नशे के अभ्यासी एक साथ जुड़ सकते हैं, पर समान शील वाले व्यक्तियों में मैत्री की सार्थकता नहीं हो सकती। इस सन्दर्भ में गोस्वामी जी का 'दोहावली रामायण' में कहा गया यह वाक्य अधिक उचित प्रतीत होता है कि—

कै लघु, कै बड़ मीत भल
सम सनेह दुख सोइ।
तुलसी ज्यों घृत, मधु सरिस
मिलें महाविष होइ॥ ३२३॥

—कभी बराबरी की मित्रता मत करो। जैसे घी और शहद समान मात्रा में मिला तो विष बन जाता है। उसी प्रकार समानता की मित्रता दुखदायी होती है।

गोस्वामीजी सचमुच मनोविज्ञान के महापण्डित थे। उनका यह स्पष्ट मत था कि श्री राम और श्री भरत का साथ अधिक उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकेगा श्री लक्ष्मण के साथ रहने से जो कार्य होगा, वह भरतजी के साथ रहने से नहीं होगा। इसका कारण यह है कि भरत की प्रवृत्ति में ठीक उसी प्रकार का संकोच विद्यमान है, जो श्री राम की प्रवृत्ति में है। इसीलिए गोस्वामीजी श्री राम के साथी के रूप में श्री लक्ष्मण का चुनाव करते हैं, श्री भरत का नहीं। लोगों को इस चुनाव पर आश्चर्य भी होता है, पर गोस्वामीजी का दृष्टिकोण पूर्णतः मनोवैज्ञानिक है। परशुराम ने भी श्री राम और श्री लक्ष्मण की जोड़ी को देख आश्चर्य प्रकट किया था और श्री राम से कह दिया था—

सहज टेढ़ अनुहरइ न तोही (१।२७६।८)

—तुमने ऐसा टेढ़ा भाई अपने साथ कैसे रख लिया, जिसका न रंग तुमसे मिलता है न रूप, न स्वभाव ? ऐसा चुनाव कैसे कर लिया ? परशुराम का तात्पर्य यह था कि मैंने सुना है तुम्हारा एक भाई ऐसा है, जो रूप, रंग, स्वभाव में तुम्हारे जैसा है। यदि तुम्हें बाहर निकलना था, तो ऐसे समान गुणवाले भाई को साथ लेकर निकलते। संसार में लोगों को अलग अलग स्वभाव के व्यक्तियों को साथ रहते देख आश्चर्य ही हुआ करता है। पर आपने कभी इसके कारण पर विचार किया ? यदि एक संकोची व्यक्ति किसी मुँहफट या स्पष्ट भाषी को पसन्द करने लगे तो लोग अचरज कर सकते हैं, पर जो मनोविज्ञान का ज्ञान रखते हैं, उन्हें इस पर आश्चर्य नहीं होगा क्योंकि वे ऐसी मित्रता का कारण समझते हैं। संकोची व्यक्ति भी कभी कभी मन में अनुभव करता है कि साफ साफ कह दे, पर अपने स्वभाव से लाचार होने के कारण वह कह नहीं पाता। ऐसी दशा में मुँहफट साथी बड़ा काम आता है। तात्पर्य यह है कि जो बात एक संकोची व्यक्ति चाहते हुए भी नहीं कह पाता उसे उसका स्पष्टभाषी मित्र कहकर उसके काम को पूरा कर देता है। भगवान् राम की भी यही समस्या है। धनुर्भंग के प्रसंग में परशुराम श्री लक्ष्मण पर बिगड़ रहे हैं और बार बार फरसा चमका रहे हैं। लक्ष्मणजी को हंसी आ जाती है और उन्हें हँसते देख परशुराम क्रोध से भर जाते है—

हँसत देखि नख सिख रिस व्यापी।
राम तोर भ्राता बड़ पापी॥ १।२७६।६

वे कह उठते हैं—राम, तेरा भाई बड़ा पापी है। तो क्या अकेले लक्ष्मणजी हँस रहे हैं ? श्री राम भी तो हँसते हैं—'**मन मुसुकाहिं रामु सिर नाएँ (१।२८०।४)**, पर, वे

सिर झुकाये मन ही मन हँसते हैं। वे संकोच के कारण लक्ष्मण के समान उन्मुक्त होकर नहीं हँस पाते। यदि परशुराम श्री राम को भी हँसते देख पाते, तो जाने, क्या होता ! प्रभु को लगता है कि जो साहस मुझमें नहीं, वह लक्ष्मण में है। और जिस समय परशुराम श्री राम पर भी बिगड़ खड़े होते हैं, तो प्रभु मन में सोचते हैं—

गुनह लखन कर हम पर रोषू।
कतहुं सुधाइहु ते बड़ दोषू ॥
टेढ़ जानि सब बंदइ काहू।
बक्र चंद्रमहि ग्रसइ न राहू ॥ १।२८०।५-६

—गुनाह तो लक्ष्मण का और क्रोध मुझ पर करते हैं। कहीं कहीं सीधे पन में भी बड़ा दोष होता है। टेढ़ा जानकर सब लोग किसी की भी बन्दना करते हैं। टेढ़े चन्द्रमा को राहु भी नहीं ग्रसता !

और इस प्रकार श्री राम यह अनुभव करते हैं कि लोक-कल्याण के लिए कभी कभी टेढ़ापन आवश्यक हो जाता है। इसीलिए वे लक्ष्मण को साथ रखना पसन्द करते हैं। भरत को नहीं। क्योंकि श्री लक्ष्मण ही श्री राम के पूरक बन सकते हैं, श्री भरत नहीं। और श्री लक्ष्मण की भूमिका सबसे कठिन, सबसे जटिल है, क्योंकि यह स्वाभाविक है कि किसी मुँहफट, संघर्ष-प्रिय और उग्र स्वभाव वाले व्यक्ति को यश प्राप्त नहीं हो सकता। अतएव जो व्यक्ति लोक-कल्याण के लिए अपने यश की इच्छा से ऊपर उठकर बड़े से बड़ा कलंक स्वीकार कर ले, उसके त्याग की सराहना ही करनी होगी। तभी तो चारों भाइयों के नामकरण के समय गुरु वशिष्ठ ने 'लक्ष्मण' नाम की व्याख्या करते हुए कहा—

लच्छन धाम राम प्रिय सकल जगत आधार।
गुरु वसिष्ठ तेहि राखा लछिमन नाम उदार ।।१/१९७

—जो शुभ लक्षणों के धाम हैं, श्री राम के प्रिय हैं, सारे संसार के आधार हैं, उनका, 'लक्ष्मण' ऐसा उदार नाम है। गुरु वशिष्ठ लक्ष्मण को उदार कहते हैं, पर वे तो उदार लगते नहीं, बड़े संकीर्ण मालूम होते हैं। उदार वह होता है, जो वितरण करता है, देता है। श्री राम की उदारता तो '**रामचरितमानस**' में स्थल-स्थल पर दिखाई देती हैं, पर लक्ष्मण जी की उदारता कहाँ पर दिखती है ? तब फिर वशिष्ठजी ने लक्ष्मण जी का नाम रखते समय 'उदार' शब्द का प्रयोग कैसे कर दिया। सामान्यत: हम संसार में धन देने वाले को ही उदार समझते हैं, पर धन देने वाला व्यक्ति तो यश-कीर्ति भी पाता है, किन्तु जिस व्यक्ति ने लोक-कल्याण के लिए अपने यश को भी अर्पित कर दिया हो उससे बढ़कर उदार कौन हो सकता है ? जब हम उदारता की ओर इस दृष्टिकोण से देखते हैं, तभी लक्ष्मणजी के चरित्र के साथ परा न्याय कर पाते हैं। वे नाम-यश की बिना परवाह किये जब जैसा अनुभव करते हैं,

जो आवश्यक सभझते हैं वह, निःसंकोच भाव से व्यक्त कर देते हैं, फिर चाहे सामने कितनी भी बड़ी हस्ती क्यों न हो। उनका यह स्वभाव श्री विश्वामित्र को ज्ञात है, इसीलिए वे मानते हैं कि श्री लक्ष्मण की भूमिका के बिना भगवान् श्री राम का कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता।

अन्य पात्रों की तुलना में लक्ष्मण जी की भूमिका विशिष्ट है। प्रत्येक पात्र को उसके स्वभाव के अनुसार कार्य मिला हुआ है और हर पात्र अपनी मिली भूमिका का निर्वाह करता है। भगवान् श्री राम भी प्रत्येक के साथ अलग-अलग प्रकार का व्यवहार करते हैं। जैसे, आप अपने से छोटे से मित्र का व्यवहार करेंगे, किसी महात्मा के पास जाने पर शान्त भाव से उसके सामने झुकेंगे, किसी मित्र के समक्ष अपना मन ही खोलकर रख देंगे। इसी प्रकार, '**रामचरितमानस**' में जितने भी पात्र हैं, उन सब के साथ श्री राम का नाटक किसी न किसी सीमा के द्वारा घिरा हुआ है, यहाँ तक कि श्री भरत के साथ भी उनका नाटक सीमाओं से घिरा हुआ है, क्योंकि भरत जी के प्रति श्री राम के मन में महानता का भाव है। श्री हनुमान के प्रति भी उनके मन में सम्बन्धों की सीमा है। पर लक्ष्मणजी के साथ एक विचित्र बात है। केवल वे ही ऐसे पात्र हैं, जिनसे भगवान् राम के सम्बन्धों की कोई सीमा नहीं है। श्री राम की प्रत्येक परिस्थिति, प्रत्येक मनः स्थिति, प्रत्येक क्रिया-कलाप में जो समान रूप से उपयोगी है, वे हैं लक्ष्मण। आप यदि '**रामचरितमानस**' को आदि से अन्त तक पढ़ लें, तो देखेंगे कि लक्ष्मणजी भगवान् राम के साथ सब प्रकार की भूमिकाओं का निर्वाह करते हैं। यदि शान्त-रस की भूमिका हो, तो आप उन्हें वटवृक्ष की छाया में श्री राम के समक्ष बैठे हुए हाथ जोड़कर वैराग्य की चर्चा करते हुए पाएँगे—

कहहु ग्यान बिराग अरु माया।
कहहु सो भगति करहु जेहिं दाया॥
ईस्वर जीव भेद प्रभु सकल कहौ समुझाइ।
जातें होइ चरन रति सोक मोह भ्रम जाइ॥३।१४

और पुष्पवाटिका में जहाँ श्रृंगार-रस की कविता प्रभु के अन्तःकरण में फूटती है, क्या आप सोच सकते हैं कि प्रभु भरत को लेकर जा सकते थे? यदि जाते भी, तो क्या वहाँ प्रकट होने वाले श्रृंगार-रस का वर्णन वे भरत से कर सकते थे? वह तो लक्ष्मण ही हैं, जिनके समक्ष वे अपने अन्तःकरण में उपजे श्रृंगार-रस का भी वर्णन कर सकते हैं। एक ओर उनसे ज्ञान-विराग की चर्चा, तो दूसरी ओर हास्य और श्रृंगार की भी। पुष्पवाटिका में जब सीताजी के आभूषणों की ध्वनि सुनाई देती है, तो प्रभु के हृदय का कवित्व श्री लक्ष्मण के समक्ष वाणी का रूप ले बरस उठता है। वे कह उठते हैं—

कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि ।
कहत लखन सन रामु हृदयँ गुनि ॥
मानहुं मदन दुंदुभी दीन्ही ।
मनसा बिस्व बिजय कहँ कीन्हीं ॥ १।२२६।१-२

—लक्ष्मण, लगता है कामदेव वाद्य बजाता हुआ आ रहा है। तो, लक्ष्मण जी के साथ श्री राम का जो सम्बन्ध है, वह किसी सीमा से घिरा हुआ नहीं। रामायण में भगवान् राम अन्य किसी भी पात्र से उतने उन्मुक्त भाव से बात नहीं करते, व्यवहार नहीं करते, जितना कि श्री लक्ष्मण से। शान्त रस में लक्ष्मण उनके साथी हैं, शृंगार-रस में भी, हँसी-विनोद का अवसर आये उसमें भी, फिर राज्य का त्याग करना हो तो विराग की भूमिका में भी उतने ही भागी है। जब शूर्पणखा विवाह का प्रस्ताव ले भगवान् राम के पास आती है, तो प्रभु कह देते हैं—'**अहइ कुआर मोर लघु भ्राता**' (३।१६।११)—अगर विवाह ही करना चाहती हो, तो मेरे छोटे भाई के पास चली जाओ, वह कुँआरा है। क्या प्रभु भरत को सामने रखकर ऐसा वाक्य कह सकते थे ? प्रभु ने छोटे भाई के साथ विनोद भी कैसा किया ? जो राज्य छोड़कर, पत्नी छोड़कर, प्रभु की सेवा में आये हुए हैं, उन्हें 'कुमार' कहते हुए शूर्पणखा को उनकी ओर प्रेरित कर दिया ! और लक्ष्मणजी प्रभु के मन की बात समझ लेते हैं कि वे विनोद का विस्तार करना चाहते हैं। बस, वे भी प्रभु की इस लीला में तुरन्त सहायक बन जाते है। शूर्पणखा श्री राम द्वारा प्रेरित होकर श्री लक्ष्मण के सामने खड़ी हो जाती है। लोग लक्ष्मणजी को कटु स्वभाव का कहते हैं। पर क्या इस प्रसंग में कोई कटुता उनमें दिखाई देती है ? वे चाहते तो उसी क्षण शूर्पणखा के नाक-कान काट लेते, या कह देते कि मेरा विवाह हो गया है, तुम उन्हीं के पास जाओ। पर उन्हें तो प्रभु की विनोद-लीला को बढ़ाना है। वे क्या करते हैं ? '**गइ लछिमन रिपु भगिनी जानी। प्रभु बिलोकि. . .** (३।१६।१२)—वे प्रभु की ओर देखते हैं, प्रभु से उनकी आँखें मिलती हैं और तब वे शूर्पणखा से कहते हैं—'सुंदरि सुनु'—सुन्दरी, सुनो। शूर्पणखा बड़ी प्रसन्न होती है कि छोटा भाई बड़े से अधिक रसज्ञ जान पड़ता है, उसने मुझे 'सुन्दरी' तो कहा, बड़े भाई ने तो मेरे सौन्दर्य की कोई सराहना ही नहीं की। लक्ष्मणजी उसे सुन्दरी कहते तो हैं, किन्तु उसकी ओर देखते नहीं, वे तो 'प्रभु बिलोकि'—प्रभु को देखते हैं और एक वाक्य कहकर विनोद को बढ़ा देते हैं—

सुंदरि सुनु मैं उन्ह कर दासा।
पराधीन नहिं तोर सुपासा ॥३।१६।१३

--सुन्दरी, यदि उन्होंने तुम्हें मेरे पास यह कहकर भेजा है कि मैं कुँआरा हूँ, तो उन्होंने ठीक ही कहा होगा, लेकिन अगर तुम्हारा विवाह मुझसे हो भी जाय ,तो

तुम्हारा क्या लाभ होगा ? मैं तो उनका दास हूँ, इस नाते तुम दास की पत्नी ही तो कहाओगी। तुम्हें कितना कष्ट होगा तुम सोच देखो। इतना कहकर लक्ष्मणजी यदि रुक जाते, तब भी ठीक था, पर वे तो प्रभु के विनोद का विस्तार करना चाहते हैं। जब लक्ष्मणजी की बात सुनकर शूर्पणखा कहती है कि तुम भी जब मुझे स्वीकार नहीं करते, तो क्या निराश हो जाऊँ, तब लक्ष्मणजी कहते हैं नहीं, नहीं, तुम हमारे बड़े भाई के पास ही चली जाओ। शूर्पणखा कहती है—पर वे तो विवाहित हैं, वे कैसे मुझे ग्रहण करेंगे ? वे तो पहले ही बता चुके हैं। लक्ष्मणजी उत्तर देते हैं—उससे क्या हुआ ? 'प्रभु समर्थ कौशलपुर राजा'—प्रभु तो अयोध्या के राजा हैं। जहाँ राजा कई विवाह किया करते हैं, वहाँ यदि यह दो कर लेंगे तो कौन रोकने वाला है ? **'जो कछु करहिं उनहिं सब छाजा'**—वे जो कुछ करें उन्हें सब शोभा देता है और यदि मैं कुछ करूँ, तो मेरी आलोचना होगी! इसलिए तुम उन्हीं के पास जाओ। और सचमुच शूर्पणखा श्री राम के पास चली जाती है। प्रभु उससे पुनः कहते हैं—नहीं, वह दास नहीं, मेरा छोटा भाई है, तुम उससे विवाह करके सुखी होगी, और ऐसा कह उसे फिर से लक्ष्मण जी के पास भेज देते हैं। लक्ष्मणजी उसे पुनः समझाते हैं—तुम कैसी भूल कर रही हो, राजा को छोड़कर दास से विवाह करना चाहती हो, तुम उन्हीं के पास जाओ। और यह क्रम कब तक चलता है ? जब तक भगवान् राम विनोद चाहते हैं। और जब वे देखते हैं कि हास्य की स्थिति अब यहाँ तक आ गयी कि सूर्पणखा क्रुद्ध हो उठती है तथा रौद्र और बीभत्स रस की सृष्टि हो जाती है, तो वे लक्ष्मण को संकेत करते हैं। शूर्पणखा को लगा कि सुन्दरी सीता ही मेरे मार्ग में बाधक है और यह सोच वह उन्हें खाने के लिए जब बढ़ती है, तो प्रभु लक्ष्मण को संकेत से बता देते हैं कि अब क्या करना होगा। बस, त्यों ही लक्ष्मणजी भी अपनी भूमिका बदल देते है। जो अभी-अभी व्यंग-विनोद में इतना रस ले रहे थे, शूर्पणखा को सुन्दरी कहकर विनोद कर रहे थे, वे क्षण भर में अब इतना कठोर, इतना उग्र बन जाते हैं कि—

लछिमन अति लाघवँ सो नाक कान बिनु कीन्हि।
ताके कर रावन कहँ मनौ चुनौती दीन्हि ॥ ३।१७

इसका तात्पर्य यह है कि हर क्षण यदि कोई प्रभु का साथ दे सकता है, तो वह लक्ष्मण ही हो सकते हैं, कोई और नहीं। इसलिये न तो हनुमानजी प्रभु के पूरक हैं, न भरतजी, पूरक तो केवल लक्ष्मणजी हैं। इसीलिए विश्वामित्र श्री राम के साथ श्री लक्ष्मणजी की माँग करते हैं। और इसकी सार्थकता हम स्थान-स्थान पर अनुभव करते हैं। धनुष-यज्ञ का प्रसंग ही लें। जब धनुष के न टूटने से जनक निराश हो गये और कहने लगे—मैंने समझ लिया कि पृथ्वी वीरों से खाली हो गयी है, तब उन्हें उत्तर कौन प्रदान करता है ? श्री राम के लिए जनक की बात का खण्डन

करना उनके अपने स्वभाव के प्रतिकूल है, क्योंकि उनके स्वभाव का मूल तत्व ही है शील और संकोच। महाराज जनक चाहे जितनी अनुचित बात क्यों न कहें, श्री राम उनका कभी खण्डन न करेंगे, क्योंकि वे जानते हैं कि जनक महान ज्ञानी हैं, समाज में पूज्य हैं, वे समझते हैं कि उन्हें जनक के साथ किस प्रकार व्यवहार करना चाहिए। ऐसी स्थिति में जनक के अनुचित शब्दों का उत्तर श्री लक्ष्मण के अतिरिक्त और कौन दे सकता था ? उस धनुष यज्ञ में लक्ष्मण ही ऐसे व्यक्ति हैं, जो उस समय के संसार के दो बड़े महापुरुषों को फटकारते हैं—एक को धनुष टूटने से पहले और दूसरे को धनुष टूटने के बाद। एक हैं, उस समय के सबसे बड़े ज्ञानी जनक, और दूसरे हैं सबसे बड़े वीर परशुराम। बाह्य दृष्टि से लगता है कि लक्ष्मण कितने अशिष्ट हैं, जो समाज के इतने सम्माननीय व्यक्तियों को भरी सभा में फटकार देते हैं। और प्रश्न उठ सकता है कि ऐसी फटकार, क्रोध का ऐसा प्रदर्शन क्या आवश्यक है ? क्या केवल शील और संकोच से समाज में काम नहीं चल सकता ? इस समस्या का समाधान लक्ष्मण देते हैं। जनक चाहे जितने बड़े ज्ञानी रहे हों, पर उनमें कुछ कमी है और इस कमी का परिचय लक्ष्मणजी कराते हैं। जव वे जनकजी की बात सुनते हैं तो क्रोध से उनके होठ फड़कने लगते हैं। श्री राम की आँखों में क्रोध नहीं, पर लक्ष्मणजी क्रोध से भर उठते हैं। और लक्ष्मणजी का यह क्रोध ही श्री राम की शान्ति को शक्ति प्रदान करता है, सत्वगुण को प्रेरणा देता है। लक्ष्मणजी द्वारा महाराज जनक और परशुराम को फटकारने में व्यंग्य यह था कि एक इसलिए क्रोधित हुआ कि धनुष क्यों नहीं टूट रहा और दूसरा इसलिए कि धनुष क्यों टूट गया; एक कहता है कि धनुष को टूटना चाहिए और दूसरा कहता है कि नहीं टूटना चाहिए ! लक्ष्मणजी का फटकारना सुनकर गुरु विश्वामित्र सबसे अधिक प्रसन्न हुए—

गुर रघुपति तब मुनि सन माहीं।

मुदित भए पुनि पुनि पुलकाहीं ॥ १/२५३/३

उन्हें अपने चुनाव पर गर्व हुआ। सोचने लगे—बडा अच्छा हुआ, जो मैं लक्ष्मण को भी साथ लेता आया, नहीं तो सारा काम बिगड़ जाता। यदि लक्ष्मण साथ न होते तो श्री राम जनक के शब्दों का खन्डन करने के लिए न उठते, क्योंकि यदि खण्डन करते, तो उनके शील और संकोच की जो इतनी गाथा गायी जाती है वह झूँठी हो जाती। और यदि शील और संकोच की रक्षा करने चुपचाप बैठे रहते, तो धनुष न टूटता, लोक कल्याण न होता। लोक-कल्याण की चिन्ता करने से व्यक्तित्व की महिमा घटती और व्यक्तित्व की महिमा को सुरक्षित रखने से लोक-कल्याण पर प्रहार होता। जनक के अनुचित कहने पर भी जब श्री लक्ष्मण भगवान् राम को

चुप्पी मारे बैठे देखतें हैं, तो उन्हें आश्चर्य होता है। अधिक आश्चर्य तो तब होता है; जब वे प्रभु के होठों पर हँसी खेलते देखतें हैं। प्रभु हँसे क्यों ?

आज प्रातःकाल ही दोनों भाइयों का संवाद हुआ था। भगवान् राम ने पूछा था—देखो तो लक्ष्मण, सूर्य निकल आया है क्या ? लक्ष्मण जीने हँसते हुए उत्तर दियाथा कि एक सूर्य तो निकल आया है, पर दूसरा सूर्य कुछ देर के बाद निकलेगा। लक्ष्मणजी का मतलब था कि भौतिक अन्धकार को मिटाने वाला सूर्य तो निकल आया है, पर जनक पुर में जो आध्यात्मिक अन्धकार छाया हुआ है, उसे मिटाने वाला सूर्य कुछ देर बाद निकलेगा, क्योंकि भौतिक सूर्य के द्वारा आध्यात्मिक अन्धकार नहीं मिट सकता। यह आध्यात्मिक अन्धकार क्या था ? गोस्वामीजी संकेत देते हैं कि महाराज जनक की सीता-विवाह सम्बन्धी मान्यता ही वह आध्यात्मिक अन्धकार है। जनक यह मानते हैं कि जब धनुष टूटेगा, तब श्री सीता का विवाह होगा। आप धनुष की कथा जानते होंगे कि कैसे शिवजी ने अपना धनुष महाराज जनक को दे दिया था। जनक धनुष की नित्य पूजा किया करते। एक दिन सीताजी को आदेश दिया गया कि जहाँ धनुष रखा हुआ है, उसके आसपास को साफ करके गोबर से लीप दें। सीताजी ने वहाँ जाकर साफ करते-करते देखा कि धनुष के नीचे धूल जमी हुई है और बहुत दिनों से वह स्थान साफ नहीं हुआ है। वे बायें हाथ से धनुष को उठाकर दाहिने हाथ से उस स्थान को साफ कर लीप देती हैं ! जनक जब धनुष का पूजन करने आये, तो धनुष के नीचे की जमीन भी लिपी देख बड़े आश्चर्यचकित हुए। वे सोचने लगे— जिस धनुष को खींचने के लिए हजारों योद्धा लगते हैं, उसे किसने उठाया होगा ? उन्होंने सीताजी को बुलाकर पूछा और जब मालूम पड़ा कि सीताजी ने धनुष को उठा कर नीचे की जमीन लीपी है, तो वे आश्चर्य से पूछ बैठे—बेटी, आखिर तुमने इस धनुष को उठाया किस तरह ? सीताजी ने अत्यन्त भोले भाव से मुस्कराते हुए धनुष को बाँये हाथ से उठाकर कहा—ऐसे ! जनक आश्चर्य से गड़ गये कि जिस धनुष को संहार के देवता भगवान् शंकर दोनों हाथों से उठाते हैं, उसे इस कन्या ने बायें हाथ से उठा लिया ! और जनक के विवेक ने कहा कि यह कन्या साधारण नहीं, वह तो साक्षात् महाशक्ति है—सृजन, पालन और संहार तीनों की देवी है—

उद्भवस्थितिसंहारकारिणी क्लेशहारिणीम्।
सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम्॥१/०/बन्दना

और महाराज जनक निर्णय लेते हैं कि जब मुझे महाशक्ति प्राप्त हुई है, तब उसके स्वामी ब्रह्म—का पता लगाकर उसे यह शक्ति सौंप देनी होगी। जैसे आपको रास्ता

चलते कोई वस्तु मिल जाये, तो आप यदि निस्कृष्ट वृत्ति के हैं तो उस वस्तु को हथिया लेने का प्रयास करेंगे और अपने भाग्य की प्रशंसा करते हुए कहेंगे कि वाह ! क्या बढ़िया दिन रहा। पर यदि आप उत्कृष्ट वृत्ति के हैं तो प्रयास करेंगे कि उस वस्तु के स्वामी का पता लगाकर उसे उसकी खोयी चीज वापिस कर दी जाए। आप समाचार-पत्रों में विज्ञापन देंगे कि अमुक वस्तु मिली है, जिसकी हो वह पहचान बताकर प्रमाण देकर ले जाय। महाराज जनक भी इस दूसरी पद्धति का सहारा लेते हैं। वे सोचते हैं कि महाशक्ति के स्वामी ब्रह्म—का पता लगाना होगा। पर ब्रह्म को पहचानने की कसौटी क्या होगी ? जनक ने सोचा—यदि महाशक्ति शंकरजी के धनुष को बायें हाथ से उठा लेती हैं तो उसका स्वामी धनुष को तोड़ने में अवश्य समर्थ होगा। इसलिए उन्होंने सीताजी के लिए वर प्राप्त करने हेतु धनुष को तोड़ने की कसौटी रखी। पर जब जनक देखते हैं कि धनुष को तोड़ना तो दूर, उसे कोई राजा हिला भी नहीं सका, तब उन्हें बड़ा दुख होता है और वे अपना आक्रोश व्यक्त करते हुए कहते हैं—

अब जनि कोउ माखै भटमानी।
बीर बिहीन मही मैं जानी ॥ १/२५१/६

—अब कोई वीरता का अभिमानी नाराज न हो। मैंने जान लिया, पृथ्वी वीरों से खाली हो गयी। और वे कह बैठते हैं—'कुँअरि कुआरि रहउ'—कन्या कुआरी ही रहेगी।

जनक की यह वाणी सुनते ही लक्ष्मण बौखला उठते है। और जनक को फटकारते हुए कहते हैं—

माखे लखनु कुटिल भइँ भौंहें।
रदपट फरकत नयन रिसौंहें॥
कहि न सकत रघुबीर डर लगे बचन जनु बान।
नाइ राम पद कमल सिरु बोले गिरा प्रमान॥ १।२५२
रघुबंसिन्ह महुँ जहँ कोउ होई।
तेहिं समाज अस कहइ न कोई॥
कही जनक जसि अनुचित बानी।
बिद्यमान रघुकुलमनि जानी॥ १।२५२।१-२

इन शब्दों से लक्ष्मणजी ने मानो संकेत किया—प्रभु, जब मैं आपके साथ जनकपुर आया, तब जनकजी के प्रति मेरे मन में बड़ी आदर-बुद्धि थी, क्योंकि मैंने उनके ज्ञान

को बड़ी ख्याति सुनी थी। और जब आपको एक क्षण देखते ही उन्होंने विश्वामित्रजी से पूंछ दिया कि साक्षात् ईश्वर ही तो नहीं आ गये, तो उनके प्रति मेरी श्रद्धा और अधिक बढ़ गयी कि ये तो ऐसे ज्ञानी हैं जो एक ही दृष्टि में ईश्वर को पहचान लेते हैं। पर आज इनका ज्ञानाभाव देखकर मुझे आश्चर्य हो रहा है। लक्ष्मणजी का तात्पर्य यह है कि जो राम को देखते ही उनके ब्राह्मत्व को पहचान लेता है, वह सीता को अपनी गोद में पाकर भी उनके महाशक्तित्व को अब तक कैसे नहीं पहचान पा रहा? है लक्ष्मणजी का तर्क यह है कि यदि जनक ने सीताजी को पहचान लिया होता, तो वे यह कैसे कहते कि धनुष के न टूटने पर मेरी पुत्री का विवाह नहीं होगा और वह कुँआरी ही रह जायगी? तब तो वे यही मानते कि शक्ति भला कहाँ कुमारी है, शक्ति और ब्रह्म का मिलन तो नित्य है, और वे ब्रह्म को खोजने की चेष्टा करते, कहते कि भई, अपनी वस्तु को प्रमाणित करके ले जाओ, यह नहीं कहते कि हम अपनी कन्या का दान कर रहे हैं। क्या सुबह का होना या न होना मुर्गे की बाँग पर निर्भर होता है? यह ठीक है कि जब सूर्य उगता है, उससे पहले हमें मुर्गे की ध्वनि सुनाई देती है, पर इससे हम यह मान लें कि यदि किसी दिन मुर्गा नहीं बोलेगा, तो सूर्य ही नहीं निकलेगा, तो वह तो बड़ी अविवेकपूर्ण बात होगी। वैसे ही श्री-जनक का यह मानना कि धनुष के टूटने पर ही श्री सीताजी का विवाह होगा, एक भ्रमपूर्ण धारणा है। इसका अभिप्राय यह है कि जनक एक आध्यात्मिक अन्धकार से ग्रस्त हो गये हैं। इस अन्धकार को दूर करने के लिए लक्ष्मणजी एक दूसरे सूर्य का उदय आवश्यक मानते हैं। तभी तो जब श्री राम पूछते हैं - लक्ष्मण, सूर्य निकला? तो लक्ष्मण उत्तर में कहते हैं—एक सूर्य तो निकल आया है, पर दूसरा सूर्य कुछ देर के बाद निकलेगा।

पर जिस समय लक्ष्मण जनक के अनुचित शब्दों को सुनते हैं, तो यह देख उन्हें आश्चर्य होता है कि प्रभु धनुष को तोड़ने नहीं उठ रहे हैं, वे वैसे ही चुपचाप बैठे हुए हैं। प्रभु मुस्कराकर लक्ष्मण की ओर देखते हैं। मानो उनका तात्पर्य है कि लक्ष्मण, सूर्य तो तब निकलेगा, जब पूर्व दिशा में लाली दिखायी देगी। जब तक तुम्हारे नेत्रों की लालिमा प्रकट नहीं होगी, तब तक सूर्य कैसे निकलेगा? यदि भगवान् राम सूर्य हैं, तो लक्ष्मण प्राची की लाली हैं। यदि श्री राम मेघ हैं, तो लक्ष्मण गर्जना। गर्जना के बाद ही तो वर्षा होगी, लाली के बाद ही तो सूर्य निकलेगा। और श्री लक्ष्मण अपने क्रोध की लाली से वातावरण को इतना आवेशपूर्ण बना देते हैं कि—

लखन सकोप बचन जे बोले।
डगमगानि महि दिग्गज डोले॥ १।२५३।१

—सारा संसार काँप उठता है। लक्ष्मणजी मानो श्री राम को संकेत करते हैं कि सब तो डिग गये, केवल दो ही अडिग रहे—एक आप और दूसरा धनुष । जब चैतन्य उठेगा, तब तो जड मिटेगा ? अतएव, प्रभु अब आप कार्य शुरू कीजिए। और इस प्रकार श्री लक्ष्मण स्वयं कलंक लेकर श्री राम को यश प्रदान करते हैं। वे अप्रिय बनकर सबको उत्तेजित करते हैं, जिससे श्री राम का कार्य पूर्ण हो। लक्ष्मणजी की भूमिका के बिना भगवान् राम का कार्य पूर्ण नहीं हो सकता, लक्ष्मण के बिना राम अधूरे हैं।



चतुर्थ व्याख्यान

भगवान् राम के निकटस्थ सहयोगियों में श्री लक्ष्मण की भूमिका अन्यों की अपेक्षा सर्वथा भिन्न है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने श्री लक्ष्मण को दण्ड की उपमा दी है—

रघुपति कीरति बिमल पताका।
दंड समान भयउ जस जाका॥ १।१६।६

श्री भरत, उनकी दृष्टि में, भगवान् राम के चरण-कमल के भ्रमर हैं। भ्रमर और कमल का सम्बन्ध भी अनुराग का ही सम्बन्ध है, किन्तु यदि कमल पर भ्रमर न भी हो, तो उससे उसके सौन्दर्य में कोई अन्तर नहीं आता। लेकिन दण्ड और पताके का सम्बन्ध भिन्न प्रकार का है। गोस्वामीजी कहते हैं कि श्री राम की कीर्ति तो पताका की तरह है और श्री लक्ष्मण का यश दण्ड के समान है। दण्ड के अभाव में पताका की स्थिति हो ही नहीं सकती, पताका आकाश में फहराने के लिऐ दण्ड पर निर्भर रहती है। इस दृष्टि से श्री लक्ष्मण की भूमिका अन्यों की अपेक्षा सर्वथा भिन्न है। उनकी भूमिका में एक जटिलता यह है कि कई प्रसंग ऐसे आते हैं, जो परस्पर विरोधी हैं ओर वे ऐसे प्रत्येक प्रसंग में साथ हैं। उनकी उपस्थिति में भगवान् राम जितना निःसकोच व्यवहार करते हैं, उतना और किसी पात्र की उपस्थिति में नहीं। श्री भरत और श्री हनुमान से भगवान् राम का जो सम्बन्ध है और श्री लक्ष्मण से उनका जो नाता है, इन दोनों सम्बन्धों में एक बहुत बड़ा अन्तर है। श्री राम भरत का भी बड़ा संकोच करते हैं। वे कहते हैं—

राखेउ रायँ सत्य मोहि त्यागी।
तनु परिहरेउ पेम पन लागी॥
तासु बचन मेटत मन सोचू।
तेहि तें अधिक तुम्हार संकोचू॥२।२६३।६-७

—'भरत, राजा ने मुझे त्यागकर सत्य को रखा और प्रेम-प्रण के लिए शरीर छोड़ दिया। उनके वचन को मेटते मन में सोच होता है। उससे भी बढ़कर तुम्हारा संकोच है।' और हनुमानजी के समक्ष प्रभु कहते हैं—

प्रति उपकार करौं का तोरा।
सनमुख होइ न सकत मन मोरा॥ ५।३१।६

—मैं तो तुमसे दृष्टि मिलाने योग्य नहीं हूँ तुम्हारे ऋणों ने मुझे इतना दबा दिया है कि मुझे लगता है, मैं तुम्हारे सम्मुख मुख करने योग्य नहीं।

इन पंक्तियों से यह तो सिद्ध होता है कि भगवान् राम के मन में श्री भरत और श्री हनुमान के प्रति कितनी प्रगाढ़ भावना है, पर यह सिद्ध नहीं होता कि कितना अधिक अपनत्व है। आदर एक अलग बात है और अपनत्व अलग। यदि कोई ऐसा व्यक्ति है, जिससे भगवान् राम को संकोच नहीं होता, तो वह हैं लक्ष्मण। जहाँ भी व्यक्ति को भिन्नता का बोध होता है, वहाँ संकोच होता है। अपने आप से व्यक्ति को भिन्नता का कोई बोध नहीं होता, अतः अपने से किसी को संकोच भी नहीं होता। तो, भगवान् राम लक्ष्मणजी से भिन्नता का कोई बोध ही नहीं करते। इसीलिए पूरे 'रामचरितमानस' में वे लक्ष्मणजी के प्रति कभी कृतज्ञता प्रकट नहीं करते, जैसी वे हनुमानजी के प्रति करते हैं। क्या हनुमानजी की अपेक्षा लक्ष्मणजी की सेवा कुछ कम है ? लक्ष्मणजी की सेवा तो प्रभु को बाल्यावस्था से उपलब्ध है, पर एक अद्भुत बात यह आती है कि हनुमानजी से प्रभु का ज्योंही परिचय हुआ, प्रभु ने कह दिया—

सुनु कपि जियँ मानसि जनि ऊना।
तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना।। ४।२।७

—तुम मुझे लक्ष्मण से दुगने प्रिय हो। यदि प्रभु हनुमान को लक्ष्मण के समान प्रिय बताते, तो भी कोई बात थी, पर एकदम दुगुना प्रिय बता दिया ! हनुमानजी को यह सुनकर कैसा लगा होगा ? क्या आप सोचते हैं कि हनुमानजी ने मान लिया कि मैं सचमुच लक्ष्मणजी की अपेक्षा दुगुना प्रेमभाजन हूँ ? ऐसी भूल हनुमानजी कभी नहीं कर सकते। उनका हृदय तो प्रभु का यह वाक्य सुनकर लक्ष्मणजी के प्रति अभिभूत हो गया। वे सोचने लगे—धन्य हैं लक्ष्मणजी, जो प्रभु के कितने विश्वास-पात्र हैं ! प्रभु ने जो बात कही थी, वह कितनी व्यवहार-विरुद्ध थी। एक चतुर व्यावहारिक व्यक्ति ऐसी भूल नहीं कर सकता, जैसी प्रभु ने की। एक व्यक्ति के सामने दूसरे की तुलना की जाय और दूसरे को श्रेष्ठ बता दिया जाय, तो तात्पर्य यही होगा कि पहले व्यक्ति की सेवा का कोई मूल्य ही नहीं आँका गया। लक्ष्मणजी सारे परिवार और समग्र सुख का परित्याग कर प्रभु की सेवा में कितने दिनों से लगे हुए हैं। और एक ही क्षण के परिचय में हनुमानजी बड़े हो गये ! तो क्या प्रभु ने लक्ष्मणजी की सेवा का कोई मूल्य नहीं आँका ? इसका उत्तर यह है कि प्रभु के अन्तःकरण में यदि हनुमानजी के प्रति आदर की पराकाष्ठा है, तो लक्ष्मणजी के प्रति अपनत्व की। इसीलिए लक्ष्मण ही ऐसे पात्र हैं, जिनके प्रति भगवान् राम को न तो कृतज्ञता की अनुभूति होती है न ऋण का बोध। ऋण का बोध तब होता है, जब हम दूसरे से कुछ लेते हैं। व्यक्ति अपने आपका ऋणी नहीं होता। हनुमानजी

यदि चरणों में गिर जायँ, तो प्रभु चाहते हैं कि हनुमानजी को सम्मान दें और यदि भरतजी गिर जायँ, तो उन्हें गले से लगा लें। इन दोनों पात्रों के सन्दर्भ में प्रभु में द्वन्द्व प्रारम्भ हो जाता है, पर एक लक्ष्मणजी ही ऐसे पात्र हैं, जो चाहे चरणों में पड़े रहे, चाहे प्रभु के पास बैठे रहें, जिनके किसी भी क्रिया-कलाप में प्रभु को कोई आपत्ति नहीं। इससे बढ़कर लक्ष्मणजी के लिए और क्या बात हो सकती है कि उनकी उपस्थिति में भगवान राम को किसी द्वितीय की उपस्थिति का बोध नहीं होता।

लक्ष्मणजी हर प्रसंग में उनके साथ हैं, पर अलग अलग प्रसंग में उनकी भूमिका अलग अलग हो जाती है। भगवान् राम जिस दिन धनुष तोड़ते हैं, उससे एक दिन पहले वे पुष्पवाटिका में रहते हैं। पुष्पवाटिका यदि श्रृंगार का प्रसंग है, तो धनुषयज्ञ वीरता का । जहाँ धनुष-भंग करना है, वह तो वीर-रस का ही प्रसंग हो सकता है। और यदि आध्यात्मिक दृष्टि से विचार करें, तो वह अध्यातम का दिव्य दर्शन भी है । श्री लक्ष्मण श्रृंगार-रस में भी प्रभु के साथी हैं और वीर-रस में भी। पर दोनों प्रसंगों में उनकी भूमिका अलग अलग है । विचार करने पर दोनों प्रसंगों में एक बात में समानता दिखायी देती है, वह यह कि दोनों ही प्रसंग 'तोड़ने' के हैं। भगवान राम पुष्पवाटिका में पुष्प तोड़ते हैं और धनुषयज्ञ में धनुष। पर दोनों में एक अन्तर है । पुष्प कोमलता का प्रतीक है और धनुष कठोरता का। पुष्पवाटिका में कोमलता की पराकाष्ठा है पुष्प और धनुषयज्ञ के मण्डप में कठोरता की सीमा है धनुष--उसे वज्र की अपेक्षा भी कठोर बताया गया है। और दोनों के तोड़ने की क्रिया श्री राम द्वारा सम्पन्न होती है। यही गोस्वामीजी की अनोखी शैली है । यहाँ गोस्वामीजी की भावना में दर्शन का समन्वय होता है। क्या यह सम्भव है कि कोई सरल काम करना हो, तो व्यक्ति थक जाय और कठिन काम करना हो, तो व्यक्ति न थके ? गोस्वामीजी इसे सम्भव मानते हैं। वे उदाहरण देते हैं कि जब भगवान् राम वाटिका में पुष्प चुनते हैं, तो उससे--**'भाल तिलक श्रमबिंदु सुहाए'** (१।२३२।३)--उनके माथे पर पसीने की बूँद आ जाती हैं, और धनुष तोड़ते समय उनका अनुभव उल्टा है । वे इतनी सरलता से, इतने तत्क्षण , इतने अल्पकाल में धनुष टूटने की क्रिया को सम्पन्न कर लेते हैं कि उन्होंने धनुष कब उठाया, कब उसे चढ़ाया और कब तोड़ दिया, यह किसी ने नहीं देखा--

लेत चढ़ावत खैंचत गाढ़ें ।
काहुँ न लखा देख सबु ठाढ़े ॥ १।२६०।७

--एक बिजली-सी कौंधी और धनुष टूट गया। लोगों को ऐसा प्रतीत हुआ कि धनुष तो टूटा हुआ ही पड़ा है और श्री राम खड़े हैं। तो, वज्र से अधिक कठोर धनुष को

तोड़ने में श्रम की अनुभूति का अभाव और सुकोमल पुष्प को तोड़ने में श्रम-बिन्दु का आना ! क्या तात्पर्य है ? यहाँ पर मानो गोस्वामीजी इस प्रसंग को मात्र एक घटना के रूप में नहीं लेते, बल्कि उसे भावना से जोड़ देते हैं ! यह पुष्पवाटिका का प्रसंग कई रामायणों में प्राप्त नही हैं। संस्कृत में केवल माघ के नाटक में इसका संकेत प्राप्त होता है। तो, पुष्पवाटिका के प्रसंग की अवतारणा के पीछे गोस्वामीजी का क्या उद्देश्य था ? विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि पुष्पवाटिका का प्रसंग गोस्वामीजी को लाना इसलिए आवश्यक था कि महाराज जनक ने प्रतीज्ञा की थी कि जो शंकरजी का धनुष तोड़ेगा, उसे मैं अपनी कन्या अर्पित करूँगा। ऐसी परिस्थिति में, जिस व्यक्ति के द्वारा धनुष टूटता, श्री किशोरीजी उसके गले में जयमाला अर्पित करने के लिए बाध्य होतीं, और वह शुद्ध अनुराग का सम्बन्ध न होकर धर्म के द्वारा जोड़ा गया सम्बन्ध होता हैं।

प्रीति के दो मार्ग हैं---एक वह, जो धर्म और बुद्धि के द्वारा उत्पन्न होता है और दूसरा, सहज । वर और कन्या का एक दूसरे से कोई परिचय नहीं। विवाह-मण्डप में धर्म के सूत्र के माध्यम से दोनों को जोड़ा गया और उसके पश्चात् कन्या को यह अवसर प्राप्त हुआ कि पति के प्रति अनुराग लाए। तो, विवाह के पश्चात्, पति को पाकर कन्या अनुराग-मयी हो जाती है। यह अनुराग विवाह से पहले नहीं होता, धर्म और बुद्धि के माध्यम से होता है। दूसरा अनुराग वह है, जो सहज, है, जिसे हम स्वभाव का अनुराग कहते हैं, जिसमें बुद्धि और धर्म की प्रेरणा नहीं है; वह हृदय की बात है। धनुष के टूटने के बाद यदि गोस्वामीजी सीता के प्रति श्री राम के प्रेम का वर्णन करें, तो वह बुद्धि और धर्म के माध्यम से उत्पन्न प्रेम होगा, किन्तु जिसे गोस्वामीजी सहज प्रीति कहते हैं, उसकी अवतारणा नहीं होगी। बुद्धि और धर्म के माध्यम से जो प्रेम उत्पन्न होता है, उसमें मर्यादा तो होती है, पर उसमें सहज प्रेम से उत्पन्न अनुराग की अनन्यता नहीं होती। गोस्वामीजी की कठिनाई यह है कि वे श्री राम और श्री सीता के परस्पर प्रेम में मर्यादा के साथ अनुराग की अनन्यता का भी दर्शन कराना चाहते हैं। वे 'रामचरितमानस' में मर्यादा और प्रीति दोनों का निर्वाह करना चाहते हैं। यदि वे धनुष तोड़ने से पहले प्रीति का प्रदर्शन करते हैं, तो इसमें प्रीति की सहजता तो आती है, पर मर्यादा का अतिक्रमण हो जाता है, और यदि वे धनुष टूटने के बाद प्रीति का प्रदर्शन करते हैं, तो इससे मर्यादा का संरक्षण तो होता है, पर प्रति की अनन्यता का हनन हो जाता है। इन दोनों का निर्वाह करने के लिए ही गोस्वामीजी पुष्पवाटिका के प्रसंग का उत्थापन करते हैं।

धनुषयज्ञ के प्रसंग में वर्णन आता है कि महाराज-जनक निराश हैं और निराशा से घिरकर वे कह उठते हैं—यदि मैं जानता होता कि पृथ्वी वीरों से खाली

हो गयी, तो ऐसी प्रतिज्ञा करके मैं हँसी का पात्र नहीं बनता। यदि मैं चाहूँ, तो यह मेरे लिए सम्भव है कि प्रतिज्ञा को तोड़कर अपनी कन्या का विवाह कर दूँ, पर क्या करूँ ?—

सुकृत जाइ जौं पनु परिहरऊँ ।
कुअँरि कुआरि रहऊ का करऊँ ।।
जौं जनतेऊँ बिनु भट भुबि भाई ।
तौ पनु करि होतेउँ न हँसाई ।। १।२५१।५-६

—और तब लक्ष्मणजी बोल उठते हैं। गोस्वामीजी संकेत देते हैं कि पुष्पवाटिका में श्री राम बोलते हैं और श्री लक्ष्मण मौन हैं, और धनुषयज्ञ में श्री लक्ष्मण बोलते हैं, श्री राम मौन हैं। धनुषयज्ञ में आप देखेंगे कि लक्ष्मण की भूमिका गर्जना की है और उस समय वे एक ऐसा वाक्य कह देते हैं, जो बाह्य दृष्टि से खटकने वाला है। यदि लक्ष्मणजी ने यह कहा होता कि श्री राम धनुष तोड़ सकते हैं, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं थी, पर जब वे महाराज जनक की आलोचना करने के बाद भगवान् राम से यह कहते हैं कि 'जौं तुम्हारि अनुसासन पावौं'—यदि आपकी आज्ञा प्राप्त हो, तो धनुष को उठा लूँ और उसे तत्काल तोड़कर पृथ्वी पर डाल दूँ, तो यह खटकने वाली बात लगती है। जब लोग लक्ष्मणजी के दोष गिनाने लगते हैं, तो एक यह दोष भी उनके चरित्र में जोड़ देते हैं कि वे इतने आवेश में आ जाते हैं कि क्या कहना और क्या नहीं कहना, इसका उन्हें ध्यान नहीं रहता। जब लक्ष्मणजी को यह ज्ञात है कि धनुष तोड़ने वाले से ही श्री सीताजी का विवाह होगा, तो क्या उन्हें यह कहना शोभा देता है कि मैं धनुष तोड़ दूँ ? ऐसा प्रतीत होता है कि लक्ष्मणजी आवेश के मारे मर्यादा का विस्मरण कर देते हैं। पर क्या यह सत्य है ? मैं तो यह कहूँगा कि यदि सचमुच मर्यादा का अतिक्रमण हुआ होता, तब तो वह वाक्य सुनकर सबसे अधिक दु:ख सीताजी को होना चाहिए था, क्योंकि यदि सीताजी और श्री राम के अनुराग को कोई जानता है, तो वह लक्ष्मणजी हैं, जो पुष्पवाटिका में श्री राम के साथ उपस्थित हैं। अब ऐसी परिस्थिति में यदि लक्ष्मणजी कहें कि मैं धनुष तोड़ दूँ, तो यह अमर्यादा की पराकाष्ठा मानी जा सकती है। श्री किशोरीजी के अन्त:करण में प्रभु के प्रति अनन्य अनुराग है। लक्ष्मणजी का वाक्य सुनकर उन्हें तो लगना था कि वे बड़े आवेश में आ जानेवाले व्यक्ति हैं, जिन्हें मर्यादा का भी ध्यान नहीं रहता अथवा यह लगना था कि लक्ष्मण का अन्त:करण कलुषित है। पर सीताजी को ऐसा नहीं लगता, उन्हें तो इसके विपरीत ही अनुभव होता है। गोस्वामीजी लिखते हैं कि जब लक्ष्मणजी ने यह वाक्य कहा, तो—

लखन सकोप बचन जे बोले ।
डगमगानि महि दिग्गज डोले ॥
सकल लोग सब भूप डेराने ।
सिय हियँ हरषु जनकु सकुचाने ॥ १।२५३।१-२

—सीताजी के हृदय में हर्ष हुआ और जनकजी सकुचा गये। गोस्वामीजी सबसे पहले सीताजी की प्रतिक्रिया का ध्यान करते हैं और कहते हैं कि उनके हृदय में हर्ष की बाढ़ आ गयी। लक्ष्मणजी का वह वाक्य सुन भगवान् राम को तो और भी बुरा लगना चाहिए था, क्योंकि वे लक्ष्मणजी को पुष्पवाटिका में शृंगार-रस का श्रोता बना चुके हैं। श्री सीता के सौन्दर्य को देखकर उनके अन्तःकरण में जो कवित्व फूटा उसे लक्ष्मणजी को सुना चुके हैं। पर प्रभु तो लक्ष्मणजी की बात सुनकर इतने अभि-भूत हो गये कि उनके शरीर में बार बार रोमाँच होने लगा—

गुर रघुपति सब मुनि मन माहीं ।
मुदित भए पुनि पुनि पुलकाहीं ॥ १।२५३।३

—तो, श्री सीताजी और श्री राम पर पड़नेवाली यह जो प्रतिक्रिया है, वही सिद्ध कर देती है कि लक्ष्मणजी का वाक्य पूरी तरह मर्यादित था। विश्वामित्रजी तो इस सारे नाटक के सूत्रधार ही हैं, जिन्हें सब कुछ ज्ञात है वे देख रहे हैं कि जनक लक्ष्मण की भूमिका नही समझ पा रहे हैं, पर सोचते हैं कि महाराज जनक भी बाद में समझ लेंगे। जनक यह मानते हैं कि धनुष के टूटने का सीताजी के विवाह के साथ सम्बन्ध है—धनुष के टूटने पर ही सीता का विवाह होगा, पर लक्ष्मण ऐसा नहीं मानते। बस, यहीं पर दोनों में मतभेद है। लक्ष्मणजी को यह ज्ञात है कि धनुष के टूटने से विवाह का रंचमात्र भी सम्बन्ध नहीं। उन्होंने जो सहज ढंग से कह दिया कि मैं धनुष तोड़े देता हूँ, उसके द्वारा वे जनक की भ्रान्ति पर प्रहार करना चाहते थे कि क्या धनुष टूटने पर ही श्री सीता और श्री राम का विवाह होगा ? यदि कोई महाराज दशरथ से, अयोध्यावासियों से पूछे कि भगवान् राम और सीता का व्याह कब हुआ, तो वे क्या उत्तर देंगे ? यही कि अगहन शुक्ल पंचमी को। 'रामचरितमानस' में इसका संकेत प्राप्त होता है—

हिम रितु अगहनु मासु सुहावा ॥
ग्रह तिथि नखतु जोगु बर बारू ।
लगन सोधि बिधि कीन्ह बिचारू ॥ १।३११।५-६

—अगर यही प्रश्न कोई विश्वामित्र से कर दे, तो व्यावहारिक दृष्टि से वे यही उत्तर देगें कि—

टूटतहीं धनु भयउ बिवाहू । १।२८५।८

—धनुष जब टूट गया, तो विवाह तो उसी दिन हो गया, अब औपचारिकता का निर्वाह किसी भी दिन हो, उसका कोई महत्व नहीं। और यदि कोई लक्ष्मणजी से पूंछे कि विवाह कब हुआ, तो वे कह देंगे कि विवाह तो कल पुष्पवाटिका में हो चुका है, अब आपकी सन्तुष्टि के लिए औपचारिकता का निर्वाह हो सकता है, पर मेरे लिए उसका कोई महत्व नहीं। फिर तात्विक दृष्टि से जो कालतत्त्व है, उसे तो ज्ञात है कि वह विवाह चिरन्तन है, यह विवाह होता नहीं है। शक्ति और ब्रह्म तो शाश्वत रूप से मिलित हैं, एकाकार हैं, तब भला इनके विवाह का क्या प्रश्न ? —

'एक अनादि अनन्त अनुपम लाल प्रिया म भई न चिन्हारी ।'

ऐसा ही प्रश्न शंकर और पार्वती के विवाह के विषय में आता है। जब देवगण ब्रह्माजी से प्रार्थना करते हैं कि आप चलकर शंकरजी से अनुरोध कीजिए कि वे पार्वतीजी से विवाह कर लें, तो वे शंकरजी के पास प्रार्थना करने तो जाते हैं, पर बड़ी चतुराई से अपनी बात रखते हैं। वे जानते हैं कि यदि मैं शंकरजी से कह दूँ कि आप पार्वतीजी से विवाह कर लीजिए, तो सम्भवतः शंकरजी से फटकार मिल जाय कि यही तुम्हारा ज्ञान है, जो शक्ति और ब्रह्म का विवाह होगा! अभी यदि विवाह होना है तो अब तक क्या था ? जिस समय मैना कहती हैं कि इस पागल वर से मैं ,अपनी कन्या का विवाह नहीं करूँगी, तो नारद आकर समझाते हुए कहते हैं—यदि पार्वती तुम्हारी कन्या मात्र होती,तब भले ही तुम कह सकती थीं कि अपनी लड़की शंकर को नहीं दूँगी। पर वह तो—

मयना सत्य सुनहु मम बानी।
जगदंबा तव सुता भवानी ।। १।९७।२

—साक्षात् जगज्जननी भवानी है। वह 'सदा संभु अरधंग निवासिनि' शाश्वत रूप से शंकर के साथ निवास करती हैं। यह तो तुम्हें एक सुअवसर प्राप्त हुआ है कि कन्यादान का सौभाग्य प्राप्त करो। वस्तुतः तुम्हारे विवाह करने न करने से शिव-पार्वती के विवाह का कोई सम्बन्ध नहीं।

इसीलिए जब ब्रह्माजी शंकरजी के पास जाते हैं, तो उनसे ऐसा नहीं कहते कि आप विवाह कर लीजिए, बल्कि बड़ी चतुराई से अपनी बात रखते हुए कहते हैं—

सकल सुरन्ह के हृदयँ अस संकर परम उछाहु।
निज नयनन्हि देखा चहहिं नाथ तुम्हार बिबाहु ।।१।८८

—भगवन्, सब देवतागण अपनी आँखों से आपका विवाह देखना चाहते हैं। ब्रह्मा का तात्पर्य यह है कि प्रभो, आपका विवाह तो शाश्वत है, पर हम लोग नहीं देख पाये हैं, इसलिए ऐसी कृपा कीजिए, जिससे हम भी आपका विवाह देख सकें।

संसार के माता-पिता अपने बालक के आग्रह पर उसे तरह-तरह के खेल दिखलाते हैं, पर यदि बालक कहे कि हम तो आप दोनों का विवाह देखना चाहते हैं, तो वह उसे नहीं दिखला सकते । पिता अपने बच्चों को विश्व में सर्वत्र घुमा सकता है, चन्द्रलोक में भी ले जा सकता है, पर अपना ब्याह उसे कैसे दिखा सकता है ? ब्रह्माजी मानो भगवान् शंकर से यह कहना चाहते हैं कि आप तो ईश्वर हैं, जगतपिता हैं, आपका चमत्कार यही है कि एक साधारण पिता अपने बच्चे को जो दिखा नहीं सकता, वह आप कर सकते हैं,आप अपने बच्चों को अपना विवाह दिखला सकते हैं । व्यक्ति तो वर्तमान में ही रह सकता है, वह भूतकाल में कैसे जायगा ? पर अगर ईश्वर सर्वशक्तिमान है, तो वह भूत को वर्तमान के रूप में परिणित कर सकता है और इस प्रकार अपनी सामर्थ्य का परिचय दे सकता है । तो, यही चमत्कार हमें शंकर-पार्वती और राम-सीता के विवाह में परिलक्षित होता है ।

तुलसीदास जी से पूछा गया कि ईश्वर निर्गुण है या सगुण ? उन्होंने कहा **'हिय निर्गुन नयनन्हि सगुन'**—हृदय के लिए वह निर्गुण है और नेत्रों के लिए सगुण ! ब्रह्मा भी मानो यही कहना चाहते हैं । भले ही ब्रह्म और शक्ति का मिलन शाश्वत हो पर नेत्रों की माँग यह है कि हम उस मिलन को देख सकें । जिस वस्तु को हम देख नहीं पाते, उसकी रसानुभूति कैसे हो ? तो ब्रह्माजी इस रसानुभूति के छल से, शिव-पार्वती का विवाह देखना चाहते हैं । और ब्रह्माजी की आकांक्षा पूर्ण हो गयी । पर जब वह राम-सीता का विवाह देखने गये, तो बात, कुछ दूसरी हो गयी । शिवजी का विवाह तो उन्होंने अन्य परम्परा से देखा, पर जब वे श्री राम का विवाह देखने जाते हैं, तो उसे मानव परम्परा में देखते हैं । वे सोचते हैं कि विवाह जनकपुर में हो रहा है, व जनकपुर भारतवर्ष में है, भारतवर्ष ब्रह्माण्ड में है, जिसका रचियता, निर्माणकर्त्ता मैं हूँ । पर वहाँ—

बिधिहि भयउ आचरजु बिसेषी ।
निज करनी कछु कतहुँ न देखी ॥ १।३१३।

—ब्रह्माजी को अपना बनाया कुछ नहीं दिखता । वे आश्चर्य से सोचते हैं कि किसी दूसरे ब्रह्मा के ब्रह्माण्ड में तो नहीं चला आया । यह सब किस ब्रह्माण्ड की वस्तु है ? शंकरजी ब्रह्मा की इस भ्रान्ति को पहचान जाते हैं । ब्रह्माजी बुद्धि के देवता हैं और शंकरजी विश्वास के । जब शंकरजी का प्रसंग था, तब बुद्धि के देवता की बुद्धि सुस्थिर थी, पर अब जब श्रीराम का प्रसंग आया तो, उनकी बुद्धि विचलित हो गयी, और तब विश्वास ने संकेत दिया—

सिवँ समुझाए देव सब जनि आचरज भुलाहु ।
हृदयँ बिचारहु धीर धरि सिय रघुबीर बिआहु ॥ १।३१४

—ब्रह्मा, अचरज न करो, यह श्री सीता और श्री राम का विवाह है। कितना अनूठा व्यंग्य था और व्यंग्य में कितनी बड़ी बात कह दी गयी ! ब्रह्माजी देख रहे थे कि मेरा बनाया हुआ संसार कहाँ चला गया और शंकरजी व्यंग्य के माध्यम से संकेत करते हैं कि तुम अभी जन्मे कहाँ हो, जो अपना बनाया संसार खोज रहे हो। तुम स्वयम्भू तो हो नहीं, तुम्हारा भी कोई जन्मदाता है। अभी तो श्री सीता और श्री राम का विवाह हो रहा है, उसके बाद ब्रह्मा का जन्म होगा और तब वह अपना संसार बनाएगा। शंकरजी का अभिप्राय यह था कि जो व्यक्ति अपनी सत्ता को नहीं भूल सकेगा, वह राम-सीता का विवाह कैसे देख सकेगा ? जो शाश्वत मिलन है, उसे देखने के लिए तो व्यक्ति को अपनी सत्ता को भूल जाना होगा, ब्रह्मा को अपने काल का विस्मरण कर देना होगा।

बस, यही दृष्टि लक्ष्मणजी की थी, जब उन्होंने कहा कि यदि प्रभु आज्ञा दें, तो मैं इस शिवधनुष को तोड़ दूँ। वे यह नहीं मानते थे कि धनुष के टूटने पर श्री राम और श्री सीता का विवाह होगा। वे तो उनके विवाह को चिरन्तन और शाश्वत मानते थे। ब्रह्म और शक्ति के मिलन का सम्बन्ध धनुष के टूटने या न टूटने से नहीं हो सकता है। इसीलिए जब महाराज जनक ने कहा कि मैं तो प्रतिज्ञा तोड़कर अपनी कन्या का विवाह कर दूँ, पर क्या करूँ, पुण्य के नष्ट होने का डर है—**'सुकृतु जाइ जौं पनु परि हरऊँ'**—तो लक्ष्मणजी व्यंग्य करते हैं कि धनुष टूटने के दो उद्देश्य हो सकते हैं—एक तो विवाह और दूसरा, महाराज जनक के पुण्य की रक्षा। विवाह को तो मैं उद्देश्य मानता नहीं, पर हाँ, यह मैं मान सकता हूँ कि महाराज जनक के पुण्य की रक्षा के लिए धनुष का टूटना आवश्यक है। पहला कार्य तो बड़े भाई के द्वारा हो गया, अब यह दूसरा कार्य छोटा भाई कर दे !

इस प्रकार श्री लक्ष्मण उस महान् सत्य की ओर निर्देश कर रहे हैं, जहाँ पर ब्रह्म और शक्ति एक दूसरे से शाश्वत रूप से मिलित हैं। महाराज जनक इस सत्य का बोध श्री लक्ष्मण से प्राप्त करते हैं। यह विचित्र-सी बात है कि परशुराम और जनक दोनों प्रारम्भ में लक्ष्मणजी से असन्तुष्ट थे। परशुराम संसार के सबसे बड़े वीर थे और जनक सबसे बड़े ज्ञानी। परशुराम चाहते थे कि धनुष न टूटे और जनक चाहते थे कि धनुष टूटे दोनों परस्पर विपरीत विचारधारा का पोषण करते दिखाई देते हैं, पर एक बात पर दोनों एकमत हैं और वह है लक्ष्मणजी के विषय में। दोनों लक्ष्मणजी से सन्तुष्ट नहीं हैं। जनक को लगता है कि यह बालक मर्यादा का अतिक्रमण कर रहा है। जब लक्ष्मण सबके सामने जनक को फटकार देते हैं, तो जनक को लगता है कि इसने सबके सामने मुझे असम्मानित कर दिया, और परशुराम तो

बालक की धृष्टता से अतिशय रुष्ट हैं ही। जब लक्ष्मण, परशुराम के विरुद्ध बोलने लगे, तब परशुराम ने तो कहा ही कि यह लड़का बड़ा अनुचित बोलता है, पर जनक भी बोल उठे — **'मष्ट करहु अनुचित भल नाहीं'** (१।२७७।४) -- बस, चुप रहिए, अनुचित बोलना अच्छा नहीं। यहाँ पर जनक और परशुराम, दोनों एकमत हैं, पर अन्त में दोनों ही अपने मत को परिवर्तित करने के लिए बाध्य हो जाते हैं। जनकजी स्वीकार करते हैं कि यदि लक्ष्मणजी न होते, तो हम दोनों सत्य से वंचित रह जाते। परशुरामजी ने जाते-जाते भगवान् राम को प्रणाम किया और वन्दना करते हुए केवल राम की ही स्तुति नहीं की, वरन् कहा —

अनुचित बहुत कहेउँ अग्याता।

छमहु छमामंदिर दोउ भ्राता॥ १।२८४।६

— 'आप दोनों भाई अत्यन्त क्षमाशील हैं। हे राम, मैं केवल आपसे नहीं, बल्कि लक्ष्मण से भी क्षमा-याचना करता हूँ, जो अनजाने में, मैं अनेक अनुचित शब्दों का प्रयोग कर बैठा।' जब परशुराम चले गये तो जनक अत्यन्त संकोच के साथ विश्वामित्र के पास आकर खड़े हो गये। भगवान् राम और श्री लक्ष्मण भी वहीं खड़े थे। जनकजी को स्मरण हो आया कि मैंने पहले कह दिया था कि यह बालक बड़ा अनुचित बोलता है। वे तुरन्त क्षमायाचना के स्वर में लक्ष्मण को सुनाते हुए विश्वामित्रजी से धीरे से कहते हैं—

'मोहि कृतकृत्य कीन्ह दुहुँ भाई' (१।२८५।६) --

दोनों भाइयों ने हमें कृतकृत्य किया। उन्हें कहना तो यह चाहिए था कि श्री राम ने धनुष तोड़कर कृतकृत्य किया, पर लक्ष्मण ने तो मेरी प्रतिष्ठा ही उतार डाली थी, भरी सभा में मुझे अनादृत कर दिया था, पर वे कहते हैं कि दोनों भाइयों ने मुझे कृत-कृत्य किया है। इसका अभिप्राय यह है कि भले ही कृतकृत्यता की भूमिका श्री राम ने सम्पन्न की हो, पर यदि लक्ष्मण न होते, तो शायद यह भूमिका आगे बढ़ ही नहीं पाती। इसलिए जनक श्री राम की अपेक्षा लक्ष्मणजी के प्रति अधिक कृतज्ञता का अनुभव करते हैं, और उन्होंने इस कृतज्ञता को व्यवहार में प्रदर्शित भी किया। उनके कुल में जिन चार कन्याओं का विवाह हुआ, उनमें लक्ष्मणजी के प्रति अर्पित की जाने वाली उर्मिला जनकजी की ही कन्या थी। जनक को लगा कि मैं ज्ञानी कहलाता हूँ, पर लक्ष्मण की भूमिका तो उससे भी बहुत आगे है। मैं समझता था कि सृष्टि के सत्य का, अध्यात्म तत्त्व का मुझे ज्ञान हो गया है, पर लक्ष्मण ने मुझे बता दिया कि मैं शायद सत्य से वंचित था, दूर था। जब लक्ष्मण बोल रहे थे, तो मुझे लगा था कि वे आवेश में हैं, पर वस्तुतः वे इतने संयत, इतने सुनियन्त्रित थे,

जिसकी तुलना नहीं हो सकती। और सचमुच लक्ष्मणजी ने अपने आचरण से वह दार्शनिक तत्त्व प्रकट किया, जो महाराज जनक भूल चुके थे।

वेदान्त में ब्रह्म का वर्णन प्रकाश के रूप में किया गया है, और प्रकाश की भूमिका किसी वृत्ति के रूप में नहीं होती, अतः ब्रह्म स्वभाव से सक्रिय नहीं होता। प्रकाशक की भूमिका केवल प्रकाश की होती है। प्रकाश में बैठकर यदि रामायण की चर्चा की जाय, तो प्रकाश कोई बढ़ावा नहीं देगा, और यदि उसमें बैठकर कोई गन्दा, अश्लील साहित्य पढ़े, तो वह कोई आपत्ति भी नहीं करेगा, क्योंकि ब्रह्म साक्षी-रूप से विद्यमान है —

जद्यपि सम नहिं राग न रोषू।
गहहिं न पाप पूनु गुन दोषू॥ २।२१८।३

अब ऐसे ब्रह्म की भूमिका को अपनी इच्छा के अनुरूप सम्पन्न कराना हो, तो उसमें प्रेरणा उत्पन्न करनी होगी। यह कठिन कार्य लक्ष्मणजी करते हैं। भगवान् राम में तो किसी बात के लिए अपनी कोई प्रेरणा है नहीं। वह तो लक्ष्मणजी हैं, जो अपने वचनों से उनमें प्रेरणा उत्पन्न करते हैं। गोस्वामीजी लिखते हैं कि लक्ष्मणजी के वचन सुनकर भगवान् राम पुलकित हो गये, उनके शरीर में रोमांच हो आया। अभिप्रायः यह है कि श्री राम में प्रेरणा का उत्स फूट पड़ा। यदि ब्रह्म पहले से ही पुलकित हुआ होता, तो शायद सक्रिय होकर उठ खड़ा होता और धनुष टूट चुका होता। पर श्री राम तो बैठे हुए हैं, और जनक निराश ही खड़े हैं। श्री राम में प्रेरणा उत्पन्न कर उन्हें उठाने का कार्य श्री लक्ष्मण सम्पन्न करते हैं। और उनके द्वारा धनुष का भंजन करा जनक की निराशा को दूर करते हैं।

संसार की भी ठीक यही दशा है। यह धनुष-यज्ञ क्या है ? यह धनुष अन्धकार का द्योतक है। इस धनुष के अन्धकार से प्रत्येक व्यक्ति दुःखी है। धनुष-यज्ञ में दो प्रकार की भूमिकाएँ प्राप्त होती हैं। एक भूमिका तो उनकी है, जो चाहते हैं कि अन्धकार दूर हो और दूसरी भूमिका उनकी है, जो अन्धकार को दूर करने बड़ी संख्या में आये हुए हैं। समाज में भी ये दो प्रकार की भूमिकाएँ हुआ करती हैं। एक तो वे हैं, जो दुःखी हैं, जो व्यग्र हैं कि दुःख दूर कैसे हो और दूसरे वे हैं, जो उपदेशक बनकर, प्रचारक बनकर, नेता बनकर, सुख देने वाले की भूमिका लेकर उत्साहपूर्वक दुःख दूर करने के लिए सामने आते हैं। धनुष-यज्ञ में जो दुःखी हैं, वे हैं जनकपुरवासी और जो दुःख दूर करने वाले हैं, वे हैं हजारों राजा, जो यज्ञ में सम्मिलित हुए हैं। दुःखी और दुःख दूर करने वालों का समाज एकत्र हुआ है। पर अन्त में होता क्या है ?

प्रातःकाल भगवान् राम ने लक्ष्मण से पूछा–लक्ष्मण, क्या सूर्य निकल आया है? लक्ष्मणजी ने उत्तर दिया — एक सूर्य तो निकल आया, पर दूसरा सूर्य दो घण्टे बाद निकलेगा ! प्रभु ने पूछा—यह दूसरा सूर्य कौन है और उसके द्वारा कौनसा अन्धकार दूर होगा ? लक्ष्मणजी ने कहा—प्रभो, यह जो धनुष का अन्धकार है, वह आपकी भुजा के सूर्य के द्वारा दूर होगा। भगवान् राम ने लक्ष्मण की ओर आश्चर्य से देखा। कहा — लक्ष्मण, तुम यह कैसे कल्पना करते हो कि धनुष मेरे द्वारा ही टूटेगा ? धनुष तोड़ने की इच्छा लेकर तो हजारों राजा आये हुए हैं, यह भी तो सम्भव है कि मुझसे पहले धनुष तोड़ने की चेष्टा और कोई राजा करे और धनुष टूट जाय ? लक्ष्मणजी कहते हैं—नहीं, महाराज, इनमें से एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं है, जो धनुष को तोड़कर अन्धकार दूर करने आया हो। जो दुःखी हैं, वे भला दुःख को कैसे दूर कर सकेंगे, पर जो दुःख दूर करने आये हैं, वे भी कितना दुःख दूर कर पाएँगे यह विचारणीय है ! लक्ष्मणजी का व्यंग्य यह था कि प्रभो, रात्रि को जब अन्धकार होता है, तब प्रकाश लेकर आने वालों की संख्या क्या कम होती है ? और दिन में आकाश पर दृष्टि डालिए तो आपको एक ही सूर्य दिखायी देगा। मतलब यह है कि दिन में अन्धकार दूर करने की इच्छा वाला एक और रात्रि में लाखों। पर विचित्र बात यह है कि रात के लाखों प्रकाशधर अन्धकार को दूर नहीं कर पाते, जबकि दिन का अकेला प्रकाशधर अन्धकार दूर कर देता है। तात्पर्य यह है कि रात वाले अन्धकार का दुःख दूर करने का स्वाँग करते हुए भी वास्तव में दुःख दूर करने नहीं आते। चन्द्रमा, तारे, नक्षत्र ये अन्धकार में चमकते हैं, पर इनमें से किसी में सचमुच की इच्छा नहीं कि अन्धकार दूर हो जाय। क्यों ? यदि आप चन्द्रमा और तारों से पूछ देखें कि जब तुम लोग इतनी चमक लेकर आये हो तो सचमुच चाहते हो कि अँधेरा दूर हो जाय ? — तो यदि वे अपने हृदय की बात कह सकें, तो यही कहेंगे कि भई, यदि अँधेरा ही मिट जाय, तो हम चमकेंगे कहाँ ? इसलिए हम चाहते हैं कि अँधेरा बना रहे और हम चमकते रहें। इस प्रकार व्यक्ति दुःखी के दुःख का भी शोषण करता है। ऐसे जितने भी लोग हैं, वे दूसरों के दुःख से लाभ उठाने वाले हैं। तो, लक्ष्मणजी का अभिप्राय यह है कि प्रभो, अन्धकार दूर करने वस्तुतः केवल आप आये हैं, क्योंकि आप निःस्पृह हैं, आपको कुछ भी नहीं चाहिए।अन्य सब राजा लोग तो धनुष तोड़कर सीताजी को पाने आये हैं। श्री राम के सामने सीताजी को पाने की समस्या नहीं है, क्योंकि सीताजी तो उन्हीं की हैं। समस्या उन राजाओं के सामने है, जो सीताजी को पाना चाहते हैं। उनके तथा सीताजी के बीच में धनुष आ जाता है। राजाओं का बस चले, तो जनक की प्रतिज्ञा को बीच से हटा दें। पर लाचारी है। और प्रत्येक राजा इस धनुष रूप अन्धकार को दूर करने के लिए बहुत उत्साहित है। यदि कोई निरुत्साही बैठा

हुआ है, तो वह हैं भगवान् राम। पुष्पवाटिका में सीताजी को देखकर वे अनुराग में डूब गये थे—

'सिय मुख ससि भए नयन चकोरा' (१।२२९।३)

—सीताजी के मुखरूपी चन्द्रमा के लिए उनके नेत्र चकोर बन गये थे। सीताजी के आभूषणों की ध्वनि सुनकर उन्होंने लक्ष्मणजी से कहा था—

मानहुँ मदन दुंदुभी दीन्ही।
मनसा बिस्व बिजय कहँ कीन्हीं।। १।२२९।२

—यह ध्वनि ऐसी आ रही है, मानो कामदेव ने विश्व को जीतने का संकल्प करके डंके पर चोट मारी है। सीताजी के शृंगार को देखकर वे बोल उठे थे —

सब उपमा कवि रहे जुठारी।
केहिं पटतरौं बिदेहकुमारी।। १।२२९।८

— सारी उपमाओं को तो कवियों ने जूठा कर रखा है, मैं जनकनन्दिनी सीताजी की उपमा किससे दूँ ? और आज जब धनुष-यज्ञ में जनक के बन्दीजनों ने घोषणा की कि जो धनुष को तोड़ेगा, उसे सीताजी प्राप्त होंगी, तो भगवान् राम उस घोषणा को सुनकर भी शान्तभाव से अचल बैठे हुए हैं। अन्य राजागण कितने उत्साही दिखायी दे रहे हैं ! गोस्वामीजी उनके उत्साह को व्यक्त करने के लिए एक शब्द जोड़ देते हैं — **'परिकर बाँधि' — कमर में फेंटा बाँधकर।** श्री राम के लिए फेंटा बाँधने का उल्लेख वे नहीं करते। ये राजा जो कमर में फेंटा बाँध तमककर धनुष की ओर जा रहे हैं, वह धनुष को तोड़ने की कामना लेकर नहीं, अपितु सीताजी को पाने की कामना लेकर। और उनमें से प्रत्येक व्यग्र है कि मैं पहले पहुँचकर धनुष को तोड़ दूँ, ताकि सीता मुझी को मिले। वे चलते समय अपने अपने इष्टदेवों को प्रणाम करते हैं —**'चले इष्टदेवन्ह सिर नाई'** (१।२४९।६), मानो उनसे प्रार्थना करते हैं कि धनुष के टूटने में हमारी सहायता करो। किसी ने गणेश को प्रणाम किया होगा, तो किसी ने शिव-पार्वती को, किसी ने लक्ष्मी को, तो किसी ने नारायण को। पर व्यंग्य यह है कि सबकी प्रार्थना व्यर्थ चली गयी। और क्यों न जाय ? गणेशजी का कोई एक भक्त ही तो होगा नहीं, हजारों भक्त होंगे। जो गणेश भक्त धनुष के पास जा रहा है, वह कामना कर रहा है कि धनुष टूट जाय, पर अन्य जितने गणेश-भक्त उम्मीदवार हैं, वे मनाते हैं कि प्रभो, देखना, धनुष टूटने न पाए। अब गणेशजी किसकी बात मानें। एक की या अन्य हजारों की ? और जब उस एक से धनुष नहीं टूटा, तो वह लौटता हुआ गणेश से मनाता है कि मुझसे नहीं टूटा तो न सही, पर अब दूसरे किसी से भी टूटने न देना ! तात्पर्य यह है कि उन

राजाओं में कोई भी धनुष को तोड़ने के लिए उतावला नहीं है। उनमें से प्रत्येक की माँग यह है कि धनुष टूटे तो मुझसे टूटे, अन्यथा किसी से भी न टूटे। सफलता मिले, तो मुझे मिले, नेतृत्व मिले तो मुझे मिले, यश मिले तो मुझे मिले, अन्य किसी को न मिले। यदि धनुषरूप अन्धकार समाप्त हो, तो मेरे द्वारा हो, नहीं तो अन्धकार बना रहे, कोई हर्ज नहीं। यही उन सबका मनोविज्ञान है। परिणाम यह होता है कि वे सारे असफल हो जाते हैं। अकेले श्री राम ही हैं, जो शान्त भाव से बैठे हुए सारा तमाशा देख रहे हैं। उनमें सीताजी को पाने की कोई कामना नहीं। पर धनुषरूप अन्धकार को तो समाप्त करना ही होगा। इसलिये यह आवश्यक है कि कोई उनमें धनुष को तोड़ने की प्रेरणा उत्पन्न करे। और यह महान् कार्य लक्ष्मणजी सम्पन्न करते हैं।

एक अर्थ में श्री लक्ष्मण श्री राम से भी महान् दिखायी देते हैं — श्री राम से अधिक निष्काम प्रतीत होते हैं। अब तक धनुष का भंजन चाहने वाले दो प्रकार के लोग ही हमारे सामने आये थे —एक तो जनकपुरवासी थे, जिनका अपना कोई स्वार्थ नहीं था, और दूसरे थे वे राजागण, जो सीता को पाना चाहते थे, पर जिनमें सामर्थ्य नहीं थी। अब एक तीसरे व्यक्ति श्री लक्ष्मण के रूप में हमारे सामने आते हैं, जिनमें धनुष को तोड़ने की क्षमता है, पर जो उसके टूटने से मिलने वाले फल को ग्रहण करने की इच्छा नहीं रखते। उनमें इतनी शक्ति है कि वे क्षण-भर में धनुष को तोड सकते हैं, पर न उन्हें शक्ति चाहिए और न सत्ता। वे तो केवल लोककल्याण के लिए व्यग्र हैं, श्री राम को प्रेरित करने लिए आतुर हैं। वे विरागी ब्रह्म को सक्रिय बनाने के लिए अपने अन्तर का अनुराग उसमें प्रेरित करते हैं। श्री राम का श्री सीता के प्रति अनुराग पुष्पवाटिका में लक्ष्मणजी के सामने प्रकट हुआ था। पर श्री लक्ष्मण के अन्तःकरण में भगवान् राम को छोड़ और किसी की कामना नहीं है। इसलिए जब वे अपना अनुराग श्री राम के अन्तःकरण में प्रेरित करते हैं, तो श्री राम सचमुच सक्रिय हो जाते हैं। भगवान् राम भी लक्ष्मण की निष्कामता के कायल हैं, वे लक्ष्मणजी को अपने आप से अधिक निष्काम मानते हैं।

अरण्यकाण्ड में एक प्रसंग आता है। सीता के वियोग में प्रभु आकुल हो गये। जब वन में बसन्त का आगमन हुआ, तो श्री राम को लगा कि कामदेव ही मानो सेना लेकर आक्रमण करने के लिए आ गया है। उन्होंने कहा — लक्ष्मण, कामदेव ने चढ़ायी करने का बड़ा उचित अवसर ढूँढा है। कामदेव ने पता लगा लिया कि मैं **'बिरह बिकल बलहीन'** हूँ। जब तक सीता के रूप में शक्ति मेरे पास थी, तब तक काम को मुझ पर आक्रमण करने का साहस नहीं हुआ। पर अब जब उसे पता चल गया कि मैं शक्ति से रहित हूँ, तो मुझे बलहीन समझकर अपनी सेना को ले चढ़ायी

करने आ गया। पर उसे साहस नहीं हुआ और मुझ पर बिना चढ़ायी किये वापस लौट गया। जानते हो, लक्ष्मण, वह क्यों सेना लेकर वापस चला गया ?—

बिरह बिकल बलहीन मोहि जानेसि निपट अकेल।
सहित बिपिन मधुकर खग मदन कीन्ह बगमेल ।। ३।३७(क)
देखि गयउ भ्राता सहित तासु दूत सुनि बात ।
डेरा कीन्हेउ मनहुँ तब कटकु हटकि मनजात ।। ३।३७(ख)

—उसने अपना दूत यह देखने भेजा था कि मेरे साथ कहीं मेरी शक्ति या मेरा कोई सहायक तो नहीं है। दूत ने आकर जब मुझे शक्ति के विरह में रोते, विलाप करते देखा, तो बड़ा प्रसन्न हुआ कि इसे हराना तो बड़ा सरल कार्य है। पर ज्योंही उसकी दृष्टि तुम पर पड़ी, वह घबरा गया और उसने जाकर कामदेव को सूचना दे दी कि उसके साथ तो उसका अनुज लक्ष्मण है। बस, क्या था, कामदेव इतना डर गया कि वह सेना को लौटाकर चला गया !

भगवान् राम का तात्पर्य यह है कि लक्ष्मण, मैं सीता के वियोग में इतना व्याकुल हो गया कि अपना विवेक खो बैठने की नौबत आ गयी, काम के सामने हार ही हो रही थी, पर तुम्हें देखकर काम स्वयं हार गया और मुझे छोड़कर चला गया। जब मैं अपने वियोग की ओर देखता हूँ, तो अपना विवेक खोने लगता हूँ, पर जब एक बार लौटकर तुम्हारी ओर देखता हूँ और सोचता हूँ कि देखो, दस दिन के वियोग में मेरी यह कैसी दशा हो गयी और तुम तेरह वर्षों से उर्मिला से अलग रहकर भी इतने प्रशान्त बने हुए हो, तो मुझे लज्जा आने लगती है और तुम्हारा वैराग्य मुझे बचा लेता है। भगवान् राम लक्ष्मणजी की यह जो भावपूर्ण स्तुति करते हैं, उसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि रामायण में श्री राम की अपेक्षा जो अधिक निष्काम हैं, वे हैं श्री लक्ष्मण। उनकी निष्कामता बड़ी विचित्र है। आपको संसार में ऐसे व्यक्ति तो मिलेंगे, जो या तो सकाम हैं या निष्काम। पर ऐसा व्यक्ति जो अपने लिए तो निष्काम हो, पर दूसरे के लिए सकाम, संसार में अत्यन्त ही विरल हैं। लक्ष्मणजी ऐसे ही विरल व्यक्ति हैं। आपको ऐसे त्यागी और विरागी तो मिलेंगे, जो शृंगार-रस से दूर रहते हों, पर ऐसे विरागी जो शृंगार की भूमिका में भी नाक-भौं न सिकोड़ते हों, केवल लक्ष्मणजी हैं। ब्रह्मचारी के आठ लक्षण शास्त्रों ने गिनाये हैं, जिनमें विषय का चिन्तन, श्रवण और तत्सम्बन्धी भाषण वर्जित हैं। पर लक्ष्मणजी का ब्रह्मचर्य, उनका वैराग्य ऐसा विलक्षण है कि शृंगार-रस के बीच भी अछूता रहता है। 'रामचरितमानस' में श्री राम पर काम के आक्रमण के दो प्रसंग हैं—एक पुष्पवाटिका का और दूसरा, अरण्यकाण्ड का। एक में श्री राम और श्री सीता का मिलन है और दूसरे में उन दोनों

का वियोग । और दोनों ही प्रसंगों में श्री लक्ष्मण दर्शक और श्रोता हैं। पुष्प-वाटिका के प्रसंग में श्री राम कहते हैं—लक्ष्मण, मुझे ऐसा लगता है कि कामदेव वाद्य बजाता हुआ आक्रमण करने के लिए चला आ रहा है। और अरण्यकाण्ड के प्रसंगों में वे कहते हैं कि मुझे अकेला, शक्तिहीन, विरही और विकल जान कामदेव अपने सेनापति बसन्त को ले मुझ पर चढ़ायी करने आ रहा है। दोनों प्रसंगों में भगवान् राम संकेत से एक ही बात कहते हैं, पर लक्ष्मणजी की भूमिका दोनों जगह अलग-अलग है। यह लक्ष्मणजी के चरित्र का वैशिष्ट्य है।

तो, मैं आपको संकेत दे रहा था कि गोस्वामीजी पुष्पवाटिका का प्रसंग उत्थापित करके यह चाहते हैं कि धनुष-भंग से पहले ही भगवान् राम और सीताजी के सहज सात्त्विक प्रेम को प्रकट कर दिया जाय। यह भाव की भूमि में भी आवश्यक है और दर्शन की भूमि में भी—दर्शन की भूमि में यह बताने के लिए आवश्यक है कि धनुष के टूटने के साथ ब्रह्म और शक्ति के विवाह का कोई सम्बन्ध नहीं और भाव की भूमि में यह प्रकट करने के लिए आवश्यक है कि जो प्रेम मर्यादा के मार्ग में आयेगा, वह उच्चकोटि का नहीं होगा, मध्य कोटि का होगा। सहज प्रेम की उत्कृष्टता बाग के माध्यम से प्रकट होगी, जबकि मर्यादा का प्रेम महल के माध्यम से उत्पन्न होगा। महल मर्यादा का प्रतीक है तथा वन और बाग उन्मुक्तता का। सहज प्रेम उन्मुक्त वातावरण में ही पनपता है, महल की चहारदीवारी में नहीं। पर गोस्वामीजी भगवान् राम को महल में भी देखना चाहते हैं और बाग में भी। वे यह तो चाहते हैं कि भगवान् राम मर्यादा के माध्यम से, प्रतिज्ञा को पूर्ण करते हुए विवाह करें, पर साथ ही वे यह भी चाहते हैं कि श्रीराम और श्री सीता का जो सहजानुराग है, वह भी प्रकट हो। इसलिए उनके सामने समस्या आ खड़ी होती है कि श्रृंगार की भूमिका किस प्रकार लिपिबद्ध करें। गोस्वामीजी से पहले श्रृंगार-रस के इतने बड़े-बड़े कवि हुए और उन लोगों ने श्रृंगार पर इतना लिखा कि गोस्वामीजी के सामने प्रश्न आ गया कि श्रृंगार-रस को वस्तुतः काव्य में किस स्थान पर रखा जाय? उस समय साहित्य में श्रृंगार-रस की ऐसी अधिकता थी कि देश पतन की ओर उन्मुख हो गया था। राजाओं के आश्रय में रहने वाले कवियों ने अपने आश्रयदाताओं की प्रसन्नता के लिए श्रृंगार-रस की रचनाओं के द्वारा उन्हें शरीर और मांसलता की ओर, भोग और वासना की ओर ही प्रेरित किया था। भगवान् कृष्ण सम्बन्धी काव्य में भी, भक्तों को छोड़कर, कवियों का एक बहुत बड़ा वर्ग ऐसा था, जिसे श्रीकृष्ण के प्रति भक्ति नहीं थी, अपितु जिसने श्रृंगार के माध्यम से केवल अपनी वासना का समर्थन और प्रतिपादन किया था। इसीलिए गोस्वामीजी के समक्ष यह प्रश्न खड़ा हो गया कि श्रृंगार के बिना काव्य कैसे होगा?

इस प्रश्न के समाधान के लिए उन्होंने एक नयी कल्पना की। उन्होंने निश्चय किया कि हम शृंगार-रस का वर्णन तो करेंगे, पर देहनगर में नहीं, अपितु विदेहनगर में। इसीलिए वे श्रीराम के शृंगार की कल्पना अयोध्या या लंका में नहीं करते। विदेह-नगर में करते हैं। इसका अभिप्राय: यह है कि जो देह है, वह शृंगार को नीचे की ओर ले जाती है। जो वस्तु देह में घिर जाती है, वह छोटी हो जाती है। इस-लिए गोस्वामीजी कहते हैं कि यदि शृंगार को पूर्ण होना है, तो उसे देह से ऊपर उठना होगा। इसीलिए वे एक बड़ी सुन्दर कल्पना करते हैं।

भगवान् राम जब सीताजी के सौन्दर्य का वर्णन करने के लिए उपमा खोजते हैं, तो सारे कवियों पर दोष मढ़ते हुए कह उठते हैं --

सब उपमा कवि रहे जुठारी।
केहिं पटतरौं विदेहकुमारी॥ १।२२९।८

-- क्या कहें इन कवियों को, जिन्होंने सारी उपमाएँ देहकुमारियों के लिए खपा दीं, अब मैं विदेहकुमारी के लिए कौन-सी उपमा लगाऊँ! इस पर गोस्वामीजी कवियों की ओर से सफाई देते हुए कहते हैं — महाराज, सीताजी को देने के लिए मैं एक उपमा बनाना चाहता हूँ। किसी ने गोस्वामीजी से कहा — आप लक्ष्मीजी से उनकी तुलना कर दीजिए न। गोस्वामी जी बोले -- नहीं, हम उस लक्ष्मी से सीताजी की तुलना नहीं करेंगे, हम एक नयी लक्ष्मी का सृजन करेंगे। गोस्वामीजी से पूछा गया -- यह नयी लक्ष्मी कैसी होगी? गोस्वामीजी इसके उत्तर में समुद्र-मंथन का रूपक लेते हैं। आप जानते होंगे कि जब समुद्र का मन्थन किया गया, तो मन्दराचल को मथानी बनाया गया और वासुकि नाग को रस्सी। जब देवताओं और दैत्यों ने मिलकर समुद्र को मथा, तो उसमें से चौदह रत्न निकले, जिनमें एक लक्ष्मी जी भी थीं। गोस्वामीजी कहते हैं कि वैसे लक्ष्मीजी स्वयं में तो बड़ी भोली हैं, पर समस्या यह है कि वे अपने दो भाई-बहिनों से बड़ा प्रेम करती हैं, इसलिए, हमें ये लक्ष्मीजी पसन्द नहीं —

विष बारुनी बँधु प्रिय जेही।
कहिअ रमासम किमि बैदेही॥ १।२४६।१

— उनका प्रिय भाई है विष और प्रिय बहिन है मद्य। मैं ऐसी लक्ष्मी चाहता हूँ, जिन्हें विष और वारुणी पसन्द न हों, जो उन्मादी न बनाएँ और मृत्यु की दिशा में न ले जाएँ। इसलिए गोस्वामीजी एक नयी लक्ष्मी प्राप्त करने के लिए एक अभिनव सृष्टि करते हैं। वे कहते हैं — समुद्र बदल दो, हमें खारा

समुद्र नहीं चाहिए। हमें तो छबिरूपी अमृत का समुद्र चाहिए -- **'जौं छबि सुधा पयोनिधि होई'** (१।२४६।७) । पहले के समुद्र मन्थन में कठोर मन्दराचल को मथानी बनाया गया था। वैसे मथानी को तो हल्का होना चाहिए, क्योंकि यदि वह भारी हो, तो वह नीचे चली जायगी और सम्भव है पात्र को ही तोड़ दे। उससे मक्खन तो क्या निकलेगा, मूल तत्त्व ही नष्ट हो जायगा। इसलिये सावधानी बरतनी चाहिए कि मथानी बहुत भारी न हो। पर यदि वह बहुत हल्की हो गयी, तो भी समस्या रहेगी, वह नीचे तक पहुँचकर नहीं मथ पाएगी। इसलिए मन्दराचल को मथानी बना दिया गया, ताकि सागर के अन्तराल में प्रवेश करके वह उसे मथ सके। पर मन्दराचल रूपी भारी मथानी को सम्हालने की समस्या आ खड़ी हुई। तब भगवान ने कहा कि ठीक है, मैं कछुआ बनकर नीचे बैठ जाता हूँ और, अपनी पीठ पर मन्दराचल को सम्हाल लेता हूँ, फिर आप मथानी चला लें। इससे मथानी नीचे नहीं जा पायेगी और रत्न निकल आएँगे। तो, यह तो पुराने समुद्र-मन्थन की मथानी हुई। अब इस नये समुद्र के मन्थन के लिए गोस्वामीजी मथानी किसकी बनाते हैं ? --- **'मन्दर सिंगारू'** — शृंगार-रस का मन्दराचल लाते हैं। इसका कछुआ कौन है ? —**'परम रूपमय कच्छपु सोई'** — कछुआ तो वही श्री भगवान् ही रहेंगे, उसे नहीं बदलेंगे। और रस्सी ? ७-- **'सोभा रजु'** -- शोभा की रस्सी होगी, वासुकि नाग की नहीं। और इस समुद्र को मथेगा कौन ? — **'मथै पानि पंकज निज मारू'** — स्वयं कामदेव अपने कर-कमलों से मथेगा। अब इस मन्थन से जो लक्ष्मी उत्पन्न होंगी उनकी तुलना हम सीताजी से करेंगे।

कैसी सजीव कल्पना है ! गोस्वामीजी कहते हैं कि शृंगार रस के बिना काव्य की सृष्टि में आनन्द नहीं आएगा। पर वे शृंगाररस की तुलना मन्दराचल से, मथानी से करते हैं। यदि मथानी रस्सी के द्वारा बँधी न हो, तो गिर जायगी और मन्थन नहीं हो पाएगा। इसी प्रकार यदि शृंगार-रस को मर्यादा की रस्सी के द्वारा बाँधा न जाय, तो शृंगार उच्छृंखल हो जाएगा। कवियों ने यही भूल कर दी। वे शृंगार-रस तो ले आये, पर रस्सी नहीं लाये। फलतः उन्मुक्त शृंगार से समाज असन्तुलित हो गया। इसलिए गोस्वामीजी चाहते हैं कि शृंगार-रस के मन्दराचल को शोभा की रस्सी से आवेष्टित कर दिया जाय, जिससे वह शोभा के विरुद्ध न हो। और इससे भी बड़ा संकेत वे यह देते हैं कि लोगों को रस्सी और मथानी ये दोनों तो दिखायी दे रहे हैं, पर नीचे आधार के रूप में जो कच्छप भगवान् हैं, वे दिखायी नहीं दे रहे हैं। अभिप्राय: यह है कि जिस शृँगार-रस के आधार भगवान् नहीं होंगे, वह नीचे रसातल की ओर ही ले जाएगा। इस प्रकार—

एहि बिधि उपजे लच्छि जब सुन्दरता सुख मूल। १।२४७

—इस मन्थन से जो लक्ष्मी उत्पन्न होगी, उनकी तुलना सीताजी से की जा सकेगी।

इस तरह विदेहनगर की वाटिका में श्री राम और सीता का मिलन होता है। इस श्रृंगार-रस के अनुभव में श्री राम अपने साथ जिन्हें ले जाते हैं, वे हैं श्री लक्ष्मण। वैसे तो श्रृंगार के अनुभूति-काल में किसी तीसरे व्यक्ति की आवश्यकता ही नहीं होती, पर गोस्वामीजी श्रृंगार-रस के वर्णन में श्री राम के साथ श्री लक्ष्मण का होना आवश्यक मानते हैं, जो वस्तुतः देह में स्थित होते हुए भी विदेह ही हैं। वे विराग के घनीभूत रूप हैं। वे ऐसे विलक्षण विरागी हैं जो दूसरों को तो अनुराग का अर्पण करते हैं, पर स्वयं अनुराग के भोक्ता नहीं बनते।

—



पंचम व्याख्यान

श्री लक्ष्मण के चरित्र की विलक्षणता यह है कि भगवान् राम के सन्दर्भ में जहाँ अन्य पात्रों की भूमिका किसी विशेष प्रसंग में समाप्त हो जाती है, वहाँ श्री लक्ष्मण भगवान् राम से हर प्रसंग में जुड़े हुए हैं और अलग-अलग प्रसंग में उनकी भूमिका भी अलग-अलग हो जाती है। हम शृंगार-रस में श्री लक्ष्मण की भूमिका पर विचार कर रहे थे। शृंगार-रस सम्बन्धी जो मान्यता है, उसका अभिव्यक्त रूप हमें पुष्पवाटिका-प्रसंग में प्राप्त होता है। शृंगार-रस के प्रसंग में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि यदि व्यक्ति अकेला होगा, तो उस रस की समग्रता नहीं होगी, क्योंकि शृंगार-रस की समग्रता के लिए द्वितीय की अपेक्षा होती है। फिर, यदि दो के स्थान पर तीन व्यक्ति हो जायँ, तो भी शृंगार रस का परिपाक नहीं हो सकता। गोस्वामीजी एक विचित्र प्रकार का शृंगार-प्रस्तुत करते हैं। सही यह है कि भगवान् राम अकेले नहीं हैं। यदि श्री सीताजी और भगवान् राम की उपस्थिति में शृंगार-रस की अभिव्यक्ति कर दी जाय, तो ऐसी अभिव्यक्ति स्वाभाविक ही होगी, पर जब भगवान् राम के साथ श्री लक्ष्मण हों, तब शृंगार-रस का समग्र अवतरण सम्भव है क्या, यह प्रश्न है। भगवान् राम बड़े भाई हैं और लक्ष्मण छोटे। क्या शृंगार-रस में छोटे भाई की कोई भूमिका हो सकती है? वैसे देखा जाय तो सामान्यतः अन्तःकरण में उदित होने वाला शृंगार न तो अपने से छोटे के समक्ष प्रकट किया जाता है और न अपने से बड़े के समक्ष। लेकिन गोस्वामीजी ऐसी दोनों स्थितियों को अमान्य कर देते हैं।

पुष्पवाटिका-प्रसंग का समापन वहाँ होता है, जहाँ भगवान् राम महर्षि विश्वामित्र से अपने अन्तर्मन की स्थिति का उल्लेख करते हैं। इससे भी अधिक आश्चर्यजनक है पुष्पवाटिका में श्री लक्ष्मण का साथ रहना और भगवान् श्री राघवेन्द्र का उनके समक्ष अपने मन की प्रत्येक दशा का वर्णन करना। अब हमें यह विचार करना है कि पुष्पवाटिका-प्रसंग के माध्यम से गोस्वामीजी कौन-सा दार्शनिक, भावनात्मक अथवा चरित्र सम्बन्धी तत्त्व देना चाहते हैं। आप देखेंगे कि उस प्रसंग का प्रारम्भ मर्यादा द्वारा होता है। मर्यादा के सम्पुट में गोस्वामीजी का प्रेमरत्न सुशोभित है। वास्तव में, भगवान् राम पुष्पवाटिका में श्री सीताजी के सौन्दर्य को देखने नहीं आये हैं। वे तो गुरुदेव के पूजन के लिये पुष्प लेने हेतु लक्ष्मण को साथ लेकर आये हैं। उसी प्रकार

सीताजी भी भगवान् राम को खोजने नहीं आयी हैं। वे तो पार्वतीजी का पूजन करने आयी हुई हैं, तो भगवान् राम वाटिका में आकर मालियों से आज्ञा ले पुष्प-चयन कर रहे हैं और श्री सीताजी अपनी सखियों के साथ आ पार्वतीजी का पूजन कर रही हैं। इसी के मध्य गोस्वामीजी शृंगार-रस की अवतारणा करते हैं, पर इसके साथ ही वे अपने दर्शन को अभिव्यक्त करना नहीं भूलते। वे कहते हैं कि जब सीताजी पूजन कर रही होती हैं, तब उनकी सखियों में से एक वाटिका में घूमती चली आती है और वहाँ श्री राघवेन्द्र को देख उस दिव्य सौन्दर्य से अपने अन्तःकरण में एक दिव्य अनुराग का अनुभव करती हैं। वह किशोरीजी के पास आकर अपने अन्तःकरण के भावों को प्रकट करती हैं। उससे श्री राम के सौन्दर्य का वर्णन सुन सीताजी के अन्तःकरण में पुनीत प्रीति की स्फुरणा होती है—

सुमिरि सीय नारद बचन उपजी प्रीति पुनीत।
चकित बिलोकति सकल दिसि जनु सिसु मृगी सभीत ।। १।२२९

जिस सखी ने श्री राम को देखा है उसे आगे कर लिया जाता है और सीताजी उसके पीछे हैं। अन्य सखियाँ श्री सीताजी के पीछे हैं। इस प्रकार सखियों से परिवेष्ठित हो जब सीताजी श्री राम से मिलने जाती हैं, तो गोस्वामीजी लिखते हैं —

चली अग्र करि प्रिय सखि सोई।
प्रीति पुरातन लखइ न कोई ।। १।२२८।८

अब, '**उपजी प्रीति पुनीत**' और '**प्रीति पुरातन लखइ न कोई**' ये दोनों परस्पर-विरोधी वाक्य हैं। श्री राम के दर्शन से पूर्व ही सीताजी के अन्तःकरण में अनुराग उत्पन्न हुआ, इसलिए '**उपजी प्रीति पुनीत**' की बात तो समझ में आती है, पर इस प्रीति को पुरातन कहने का क्या तात्पर्य ? यही कि गोस्वामीजी भाव की रक्षा के साथ-साथ दर्शन की भी रक्षा करना चाहते हैं। भाव की, लीला की दृष्टि से '**उपजी प्रीति पुनीत**' कहना सार्थक हो सकता है, पर तत्त्व की, दर्शन की दृष्टि से '**प्रीति पुरातन**' कहना ही अधिक सार्थक होगा। भावनात्मक दृष्टि से इस पर विचार करें, तो इसका तात्पर्य यह है कि पुरातनता में एक विशेषता है और साथ ही एक कमी भी, और उसी प्रकार नूतनता में भी एक विशेषता है और साथ ही एक कमी भी। जो वस्तु पुरानी हो जाती है, उसकी विशेषता यह है कि उसकी परख हो चुकी होती है, उसमें स्थायित्व होता है, पर उसकी कमी यह है कि उसमें रसानुभूति नहीं होती। जिस वस्तु को आप नित्य देखें, जिसका नित्य सेवन करें, उसे आप पुरानी और प्रामाणिक तो कह सकते हैं, पर उसमें रस की अनुभूति नहीं होती। इधर नवीनता में रस की अनुभूति तो होती है, पर उसे अभी प्रामाणिकता की, समय की

कसौटी पर कसा नहीं गया है। तब फिर प्रीति को पुरातन माना जाय या नूतन ? यदि उसे पुरातन मानेंगे, तो उसमें प्रामाणिकता होगी और यदि नूतन मानेंगे, तो रसानुभूति होगी। इसीलिये गोस्वामीजी ऐसे प्रीति-रस की कल्पना करते हैं, जिसमें पुरातनता और नवीनता एक साथ हैं। जो चिर पुरातन होते हुए भी नित्य नूतन प्रतीत हो, वही भक्ति का रस है। तो, पुष्पवाटिका के प्रसंग में गोस्वामीजी श्रृंगार-रस के साथ भक्ति-रस का भी दर्शन कराते हैं।

किसी ने गोस्वामीजी से पूछ दिया—जब सीताजी भगवान् राम को पुरातन काल से देख रही हैं, तो क्या वे देखते-देखते ऊब नहीं गयी हैं ? किसी वस्तु को आप नया-नया देखें, तो वह आकर्षक लगती है, पर यदि कुछ दिन आप उसे देखते रहें, तो आकर्षण समाप्त हो सकता है। फिर और कुछ दिन के बाद तो वितृष्णा भी हो सकती है। उत्तर में गोस्वामीजी कहते हैं कि स्वाभाविक नियम तो यही है कि जब प्यास लगी हुई है, तो जल प्रिय लगेगा और जैसे-जैसे प्यास मिटती जायगी, वैसे-वैसे जल की आवश्यकता का अभाव होने लगेगा, और कहीं अधिक जल पी लें, तो जल से अरुचि भी हो जायगी। पर यहाँ पर जल का दृष्टान्त पूरी तरह सार्थक नहीं होगा। गोस्वामीजी कहते हैं कि एक मनुष्य के सम्बन्ध में तो यह दृष्टान्त पूरी तरह सार्थक हो सकता है कि उसकी प्यास बुझ जाये, तो उसे जल की आवश्यकता प्रतीत नहीं होगी, पर यदि कोई मछली से पूछे कि ऐ मछली तू तो बरसों से जल में है, तेरी प्यास बुझी या नहीं, तो इस प्रश्न का क्या उत्तर हो सकता है ? ऐसी दशा में उत्तर तो यही होगा कि अनादि काल से जल में रहने पर भी मछली को जल से अरुचि का प्रश्न ही कहाँ है, क्योंकि जल से अलग होते ही उसकी सत्ता समाप्त हो जायगी। इसीलिए गोस्वामीजी भगवान् राम और श्री सीता के सन्दर्भ में मछली की उपमा देते हैं कहते हैं—

पुनि-पुनि रामहि चितव सिय
सकुचति मन सकुचै न।
हरत मनोहर मीन छबि
प्रेम पिआसे नैन।। १।२२६

—सीताजी के नेत्रों को मछली छोड़कर और क्या कहें, जो अनादि काल से श्रीराम का सौन्दर्य देखते रहने के पश्चात् भी तृप्ति का बोध नहीं करते, बल्कि निरन्तर अतृप्त बने रहते हैं। ऐसी स्थिति में गोस्वामीजी ने सीताजी के अन्तःकरण में जिस प्रीति-रस के उदय की चर्चा की है, वह एक साथ पुरातन और नूतन दोनों हैं। पूछा गया कि यह प्रीति-रस मिलन का रस है या विरह का ?

वृन्दावन में एक श्री हरिवंश-सम्प्रदाय है। उसमें सारस और चकवा का संवाद बड़ा प्रचलित है। चकवा के विषय में प्रसिद्धि है कि रात्रि के समय चकई से उसका वियोग हो जाता है और दोनों एक दूसरे के लिए विलाप करते रहते हैं। सारस के सम्बन्ध में कहा जाता है कि यदि उसके जोड़े में से एक की मृत्यु हो जाय, तो दूसरा भी अपने प्राणों का परित्याग कर देता है। एक दिन सारस और चकवा कहीं मिल गये। दोनों में विवाद छिड़ गया कि किसकी स्थिति सही है। सारस ने चकवे को फटकारते हुए कहा, **'यह रातभर क्या चिल्लाया करते हो ?"** चकवा बोला, **"तो क्या अपनी प्रियतमा के वियोग में भी न चिल्लाएँ ?"** सारस तिरस्कार करता हुआ बोला, **"यह तो तुम प्रेम का विज्ञापन करते हो। यदि सचमुच तुम्हारी प्रीति सच्ची होती, तो वियोग में तुम्हारी मृत्यु हो जाती। यह चीखना चिल्लाना बेकार है। जब तुम वियोग में भी जीवित बने रहते हो, तब तुम्हारी प्रीति सार्थक नहीं है !"** उत्तर में चकवे ने कहा, "तुमने केवल मिलन को ही जाना है, वियोग में कभी प्रेम की परीक्षा लेने का तुमने अवसर ही नहीं दिया है, इसलिए तुम क्या जानो कि वियोग की स्थिति में किस पीड़ा का अनुभव होता है ? तुम तो केवल मिलन-सुख के प्रेमी हो, वियोग की स्थिति में प्राणों का परित्याग करके तुम कायरता का ही परिचय देते हो, तुम सच्चे प्रेमी नहीं हो !"

तो, भक्त का प्रेम कैसा होना चाहिए ?—सारस जैसा या चकवा-जैसा ? श्री हरिवंश स्वामीजी एक बड़ी सुन्दर बात कहते हैं—

हित हरिबंस विचार मिलन बिरहा बिरुआ रस।
निकट कंत नित रहत मरम कहँ जानै सारस ॥

—भक्ति का रस न तो मिलन-रस है और न विरह-रस, वह तो मिलन-बिरहा रस है, जहाँ संयोग में भी निरन्तर वियोग की अनुभूति बनी रहती है और वियोग में निरन्तर संयोग की।

श्री राधारानी श्रीकृष्ण का सौन्दर्य देख रही हैं, उन दोनों का मिलन हुआ है। पर यदि पूर्ण मिलन की अनुभूति हो जाय, तो अरुचि हो जायगी, इसलिए उस मिलन में भी राधारानी वियोग की अनुभूति कर रही हैं—

राधेहि मिलेहिं प्रतीत न आवत।

—मिलन तो हुआ है, पर राधा को प्रतीति नहीं हो रही है। क्या वे देख नहीं पा रही हैं ?—

जदपि नाथ बिधु बदन बिलोकत,

दरसन को सुख पावत ।

भरि भरि लोचन रूप परम निधि,

हिय महँ आनि दुरावत ।।

जब नेत्र भर कर वे देख रही हैं, तब वियोग का भला प्रश्न कैसा? वास्तव में उन्हें अपने नेत्रों पर विश्वास नहीं हो रहा है, उन्हें लगता है कि कहीं वे सपना तो नहीं देख रही हैं ? –

सपनेहुँ आहि कि आहि सत्य यह

बुद्धि बितर्क बढ़ावत ।

इससे भी विकट स्थिति राधारानी की तब हो गयी, जब—

कबहुँक करत विचार कौन हौ,

को यह, केहि यह भावत ।

सुननेवाले ने कहा—यह व्यर्थ की बात है, सरासर पागलपन है। ऐसा भी कहीं होता है ? सूरदास ने इस पर कहा—

सूर प्रेम की बात अटपटी

मन तरंग उपजावत ।।

—प्रेम की स्थिति ऐसी अटपटी होती है, इसमें इतनी तरंगें उठती हैं कि इसे गणित के द्वारा प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। उस समय कौनसी लहर किधर उठेगी, वायु का झोंका किस लहर को किधर ले जायगा, इसे कौन बताये ?

तो, जिस मिलन में वियोग की अनुभूति बनी रहती है, उसमें अतृप्ति का बोध बना रहता है, इसलिए तृप्तिजन्य अरुचि का बोध वहाँ पर नहीं होता। दूसरी ओर, जहाँ नित्य वियोग की, शुद्ध वियोग को अनुभूति हो जाय, वहाँ प्राणों का परित्याग हो जायगा। गोस्वामीजी 'गीतावली रामायण' में वात्सल्य-रस का एक चित्र प्रस्तुत करते हैं—

श्री राम वन चले गये। कौसल्या अम्बा प्रातःकाल सोकर उठीं, तो श्री राम जिस कक्ष में सोया करते थे, उसके द्वार पर खड़ी हो गयीं और पुकारकर श्री राम को जगाने लगीं—राम, उठो बेटा, उठो, तुम अभी तक सो रहे हो ! देखो, भरत, लखन, शत्रुघ्न और तुम्हारे सारे मित्र द्वार पर खड़े हो नाम लेकर तुम्हें पुकार

रहे हैं ! इधर भगवान् राम तो वन जा चुके हैं, पर कौशल्या अम्बा की मनः-स्थिति ऐसी है कि उन्हें भरत, लखनलाल और शत्रुघ्न का स्वर सुनायी देता है, मित्रों का स्वर सुनायी पड़ रहा है, उन्हें ऐसा लगता है कि राम अभी तक सोकर नहीं उठे हैं। गोस्वामीजी लिखते हैं--

कबहूँ प्रथम ज्यों जाइ जगावति

कहि प्रिय बचन सवारे ।

उठहु तात ! बलि मातु बदनपर,

अनुज-सखा सब द्वारे ।। (अयोध्याकाण्ड, ५२)

सखियों और सेविकाओं ने सुना, तो वे दौड़ी हुई आयीं और कौशल्याजी का हाथ पकड़कर समझाने लगीं--माँ, क्या आप भूल गयीं कि इस समय तो राघवेन्द्र वन में हैं, आप किसे पुकार रही हैं, किसे जगा रही हैं ? कौशल्या अम्बा ने एक बड़ी भावमयी बात कही--तुम्हारी बात को अस्वीकार करने का जी नहीं चाहता, पर अपनी आँखों के सत्य को कैसे झुठला दूँ ?

लगेइ रहत मेरे नैननि आगे

राम-लषन अरु सीता । (अ० का०, ५३)

—जब मैं आँख उठाकर देखती हूँ, तो मेरे समक्ष राम, लक्ष्मण और सीता दिखायी देते हैं। तो क्या आँखों से दिखायी देनेवाले सत्य को मैं अस्वीकार कर दूँ ? तुम जब कहती हो कि वे वन चले गये हैं, तो तुम भी भला झूठ क्यों बोलोगी ? मैं समझ नहीं पा रही हूँ कि सत्य क्या है। होना तो यह था कि--

दुख न रहै रघुपतिहि बिलोकत

पर राम के दिखायी देते हुए भी--

तदपि न मिटत दाह या उर को

—मेरे हृदय का दाह मिट नहीं रहा है। पर यदि दूसरी ओर राम का दिखायी देना बन्द हो जाय, तब तो--"**तनु न रहै बिनु देखे**"--**प्राण ही न रहेंगे** । प्राण इस लिए बने हुए हैं, सखी, कि--

करत न प्रान पयान, सुनहु सखि !

अरुझि परी यहि लेखे । अ० का०,५३)

--वे निर्णय नहीं कर पाये हैं कि राम चले गये हैं अथवा यहीं साथ में हैं !

तो, यह जो संयोग में वियोग की अनुभूति है, वह भक्त को निरन्तर व्याकुल बनाये रखती है और वियोग में संयोग की अनुभूति उसे प्राण त्यागने से रोकती है तथा निरन्तर सामीप्य का बोध कराती रहती है। अतः यह जो दिव्य प्रीति-रस है, वह सांसारिक मिलन या विरह के समान नहीं है। संसार की भाषा में हम संयोग या वियोग की प्रीति को जिस अर्थ में समझते हैं, दिव्य रस की अनुभूति उससे सर्वथा भिन्न प्रकार की है। पुष्पवाटिका में तो इस दिव्य रस की भी पराकाष्ठा है, कारण, गोस्वामीजी के शब्दों में, श्री सीता और श्री राम वस्तुतः दो व्यक्ति नहीं हैं, जिनमें सम्बन्ध की कल्पना की जाय, वे तो दोनों अभिन्न तत्त्व हैं। यदि किसी साधारण व्यक्ति से पूछ दिया जाय कि भगवान् राम का सीताजी से क्या नाता है, तो वह उत्तर देगा-- पति-पत्नी का। एक साधारण व्यक्ति के लिए उक्त प्रश्न का उत्तर देना जितना सरल है, उतना एक भावुक या तत्त्वज्ञ व्यक्ति के लिए नहीं। 'रामचरितमानस' में आता है- वनपथ में जाते हुए श्री सीताजी से गाँव की स्त्रियों ने पूछ दिया कि ये साँवले और गोरे वर्ण के राजकुमार आपके कौन हैं ? और इस सरल प्रश्न का उत्तर देने में घण्टों लग गये। मैथिलीशरणजी ने तो दो वाक्यों में उत्तर दिला दिया, कहला दिया कि ये गौर वर्णवाले हमारे देवर हैं और श्याम उन्हीं के ज्येष्ठ हैं। बड़ी शिष्ट भाषा में परिचय हो गया। पर यहाँ तो गोस्वामीजी की सीता बड़ी समस्या में हैं--

तिन्हहि बिलोकि बिलोकति धरनी।

दुहूँ सकोच सकुचति बरबरनी ॥ २।११६।३

—सीताजी कभी गाँव की स्त्रियों की ओर देखती हैं, तो कभी पृथ्वी की ओर। परिचय ही नहीं दे पा रही हैं। गाँव की स्त्रियों ने कहा था कि गँवार लोग ही ऐसी भाषा में प्रश्न करते हैं, हम जानती हैं यह अशिष्टता है, पर

बिलगु न मानव जानि गवाँरी। २।११५।७

—हमें गँवारी जानकर बुरा न मानिएगा, जरा बता दीजिएगा कि ये आपके कौन हैं। सीताजी सोचती हैं—तुम कहती हो कि तुम गँवारी हो, पर जिस प्रश्न का उत्तर देना मेरे लिए सबसे कठिन है, वही तुमने पूछ दिया ! अभिप्राय यह है कि गाँव की स्त्रियों ने जो पूछा कि ये (राम) आपके कौन हैं, इसका उत्तर सीताजी किस प्रकार दें ? किसी ने तरंग से पूछ दिया—तुम्हारा जल के साथ क्या नाता है ? अब वीचि क्या उत्तर दे ? नाता तो अलग अलग व्यक्तियों में होता है। जल और वीचि तो अलग अलग नहीं, इसलिए जो भी नाता उन दोनों के बीच बिठाया जाएगा वह कल्पित होगा, सत्य नहीं। आप कल्पना कर लीजिए कि जल से वीचि का जन्म होता है, इसलिए वे दोनों पिता-पुत्री हैं। आप यह कह लीजिए कि जल और

वीचि साथ साथ हैं, इसलिए भाई-बहिन हैं। आप कह लीजिए कि जल और बीचि क्रीड़ा कर रहे हैं, इसलिए पति-पत्नी हैं। यह तो आपका कवित्व है जो जल और वीचि में कोई भी सम्बन्ध आरोपित कर दे। पर वस्तुतः उनमें कोई नाता नहीं होता, वे दोनों तत्त्वतः एक हैं। अतः सीताजी गाँव की स्त्रियों के उस प्रश्न का क्या उत्तर दें, जिसमें उनका श्री राम से सम्बन्ध पूछा गया ? उन्होंने एक बढ़िया मार्ग चुना—श्री लक्ष्मण का परिचय तो वाणी से दे दिया, पर भगवान् श्री राम का परिचय देने के लिए संकेत का आश्रय लिया, नेत्रों का सहारा लिया। नेत्रों से परिचय भला क्यों दिया ? इसलिए कि भाषा की कठिनाई यह है कि उसका अर्थ निश्चिन्त है, पर संकेत में यह स्वतंत्रता है कि अर्थ लेनेवाला उसका चाहे जो अर्थ लगा ले सकता है। संकेत का कोई शास्त्र तो है नहीं, जो बताये कि अमुक संकेत का अमुक ही अर्थ होता है। इसलिए सीताजी ने भगवान् राम का परिचय देने के लिए संकेत का आश्रय लिया। और संकेत का आश्रय लेने के साथ उन्होंने एक बात और की,—जब वे परिचय देने लगीं, तो अपने आँचल का घूँघट डाल लिया –

बहुरि बदनु बिधु अंचल ढाँकी। २।११६।६

गोस्वामीजी के इस कथन में भावनात्मक दृष्टि से तो शील दिखायी देता है, पर तात्त्विक दृष्टि से वे कुछ अनोखा संकेत देना चाहते हैं। गाँव की स्त्रियाँ पूछती हैं—आपके ये कौन हैं ? अब परिचय देने के लिए तो आवरण हटाना पड़ेगा। जैसे, हम व्यासपीठ पर आते हैं और रामायण की पोथी खोलते हैं। ग्रन्थ का परिचय पाने के लिए तो आवरण को खोलना पड़ेगा। तब श्री राम का परिचय देने के लिए सीताजी घूँघट क्यों डाल लेती हैं, उन्हें तो घूँघट हटा लेना चाहिए था ? यही गोस्वामीजी का अनोखापन है। सीताजी का अभिप्राय यह है कि अन्यत्र परिचय देना तो घूँघट हटाना है, पर इनसे अपना नाता बतलाने के लिए तो घूँघट डालना ही होगा। जब तक अपने और इनके बीच मैं एक व्यवधान न बना दूँ, तब तक नाता कहाँ से बताऊँगी ? नाता बताने के लिए हमें एक में दो की सृष्टि करनी पड़ेगी। तो लो, हम उनके और अपने बीच एक परदा डाले लेते हैं, जिससे तुम लोगों को सन्तोष हो जाय कि इन दोनों के बीच भी एक नाता है, एक आवरण है। पर सत्य तो यह है कि हम दोनों के बीच कोई सम्बन्ध नहीं है, केवल एकत्व की अनुभूति है, और यह आवरण तो रस की वृद्धि के लिए डाला गया है।

निरावरण का दर्शन निरावृत ज्ञान का पक्ष है। कबीर इसके पक्षधर हैं। वे कहते हैं—"घूँघट के पट खोल रे, तोहे राम मिलेंगे"—अर्थात्, घूँघट उठाओगे, तो राम मिलेंगे। पर तुलसीदासजी कहते हैं—"बहुरि बदनु बिधु

अंचल ढाँकी", घूँघट उठाने की आवश्यकता नहीं है, घूँघट डालने की आवश्यकता है, पर हाँ, यह ध्यान रहे कि घूँघट एकदम से पूरा न डाल दिया जाय, अन्यथा वह अज्ञान हो जाएगा। घूँघट रहे और दिखायी भी देता रहे—यह गोस्वामीजी का भक्ति का दर्शन है। भक्ति में आवरण तो रहता है, पर इतना नहीं कि हमारे दर्शन में बाधा पड़े। इस मध्य की स्थिति में एक विशेष रस की उत्पत्ति होती है, जब घूँघट की ओट से कोई स्वयं तो देख ले, पर दूसरा न देख सके। यह प्रीति की दृष्टि है जिसे सीताजी प्रकट करती हैं-

बहुरि बदनु बिधु अंचल ढाँकी।
पिय तन चितई भौंह करि बाँकी॥
खंजन मंजु तिरीछे नयननि। २।११६।६-७

और इसका अर्थ गाँव की स्त्रियाँ समझ लेती हैं—

निज पति कहेउ तिन्हहि सियँ सयननि॥
फलस्वरुप, भई मुदित सब ग्रामबधूटी।
रंकन्ह राय रासि जनु लूटीं॥
अति सप्रेम सिय पायँ परि बहुबिधि देंहि असीस।
सदा सोहागिनि होहु तुम्ह जब लगि महि अहि सीस॥

और गाँव की स्त्रियों की कामना पूर्ण हो गयी। उन्होंने श्री राम का परिचय प्राप्त कर लिया।

प्रभु के चरित्र के सम्बन्ध में संसार में सभी तो अज्ञ हैं। लोगों को उनका परिचय भिन्न भिन्न माध्यमों से प्राप्त होता है। कुछ लोग तो लक्ष्मणजी से पूछ लेते हैं कि श्री राम का परिचय बता दीजिए। हनुमान जैसे कुछ अन्य सीधे भगवान् राम से ही पूछ लेते हैं--"**को तुम्ह ?**" (४।०।७) गाँव की स्त्रियों ने सीताजी से पूछकर जान लिया। जनकजी ने विश्वामित्रजी से पूछा—"**कहहु नाथ जनि करहु दुराऊ**" (१।२१५।४)। किसी ने वैराग्य के माध्यम से पूछा, किसी ने भक्ति के, तो किसी ने ज्ञान के। जो बुद्धिमान हैं, वे ज्ञान के माध्यम से पूछते हैं, पर जो भावुक जन हैं, जो अपने में विवेक की विशेषता नहीं मानते, वे भक्ति के आश्रय से भगवान् का परिचय जानना चाहते हैं। उन्हें लगता है कि ज्ञान के माध्यम से भगवान् का जो परिचय होगा, वह रसीला नहीं होगा, किन्तु भक्ति के माध्यम से जो परिचय मिलेगा उसमें मिठास और रस अधिक होगा। श्री सीताजी ने जैसा परिचय

प्रभु का दिया, वैसा रामायण में और किसी ने नहीं दिया। यह जो उनका घूँघट का डालना है और बंकिम दृष्टि से, स्नेहमयी चितवन से श्री राम को देखना है, उससे केवल श्री राम का परिचय ही नहीं प्राप्त होता, बल्कि उसके द्वारा गोस्वामीजी एक अनोखी दृष्टि की उद्भावना भी करते हैं।

भगवान् राम, सीताजी और लक्ष्मण वृक्ष की छाया-तले विश्राम कर रहे हैं। क्या गाँव की स्त्रियाँ नहीं जानतीं कि सीताजी का उन दोनों पुरुषों से क्या सम्बन्ध है? व्यावहारिक दृष्टि से देखने से ही उन्हें पता चल जायगा कि उन तीनों के आपस में क्या सम्बन्ध हैं। भगवान् राम सीताजी के पास हैं और लक्ष्मणजी कुछ दूर हैं। फिर, इनके सम्बन्ध में इतना अधिक प्रचार हो चुका है कि सारी स्त्रियाँ इनके पारस्परिक सम्बन्धों को जानती हैं। तब सीताजी से उनके यह पूछने का क्या तात्पर्य था कि ये दोनों आपके कौन हैं? गोस्वामीजी जिस अनोखी दृष्टि की उद्भावना करते हैं, वही इस प्रश्न का उत्तर है।

गाँव की स्त्रियाँ जाकर सीताजी के पास बैठ जाती हैं। वे लक्ष्मणजी की ओर देखती हैं, तो पाती हैं कि लक्ष्मणजी की दृष्टि कभी श्री सीताजी के चरणों पर है, तो कभी भगवान् राम के चरणों पर। गोस्वामीजी लिखते हैं--

छिनु छिनु लखि सिय राम पद
जानि आपु पर नेहु।

करत न सपनेहु लखनु चितु
बंधु मातु पितु गेहु॥ २।१३९

तब गाँव की स्त्रियों ने भगवान् राम की ओर देखा और पाया कि व बार बार सीताजी की ओर देख रहे हैं। 'कवितावली रामायण' में (अयोध्याकाण्ड, २१) गोस्वामीजी लिखते हैं--

सीस जटा, उर-बाहु बिसाल,
बिलोचन लाल, तिरछी-सी भौंहैं।

तून सरासन-बान धरें तुलसी
वन-मारग में सुठि सोहैं॥

सादर बारहिं बार सुभायँ चितै तुम्ह त्यों।

अब ये ग्राम-वधूटियाँ यह तो देख पा रहीं हैं कि लक्ष्मणजी क्षण क्षण में भगवान् राम और सीताजी के चरणों की ओर देख रहे हैं और यह भी कि

भगवान् राम बार बार श्री सीताजी की ओर अपनी दृष्टि फेरते हैं, पर जब वे सीताजी की ओर देखती हैं, तो पाती हैं कि वे संकोच के कारण पृथ्वी की ओर देख रही हैं। सबके सामने वे कैसे श्री राम की ओर देखें ! गाँव की स्त्रियों को लगता है कि इन दोनों का देखना तो हमने देख लिया, पर सीताजी इन दोनों की ओर कैसे देखती हैं, यह देखने को नहीं मिला। वे विचार करती हैं, यदि हम सीताजी से इन दोनों का परिचय पूछें, तो स्वाभाविक ही वे आँखें उठाकर उनकी ओर देखेंगी और इस प्रकार उनकी दृष्टि का भी परिचय मिल जायगा। वैराग्य की दृष्टि तो देख ली, ज्ञान की भी दृष्टि देख ली, अब जरा भक्ति की भी तो दृष्टि देखें। ये भक्त अपने रस को छिपाकर रखते हैं। भक्ति का स्वभाव गोपन का है, अत: गाँव की स्त्रियाँ चाहतीं हैं कि जरा भक्ति की दृष्टि का भी आनन्द ले लें। और सचमुच किशोरजी ने मानो उन लोगों की भावना की परितृप्ति के लिए ही प्रभु का परिचय नेत्रों से दिया। ग्राम-वधूटियाँ निहाल हो जाती हैं। गोस्वामीजी कहते हैं– **"रंकन्ह राय रासि जनु लूटी"** (२।११६।८)—जैसे दरिद्रों ने किसी धनी का खजाना लूट लिया हो। ग्राम-वधूटियों के प्रश्न के माध्यम से गोस्वामीजी भक्ति की इसी अनोखी दृष्टि की उद्‌भावना करते हैं।

तो श्री सीताजी अपनी इसी दृष्टि को लेकर पुष्पवाटिका के प्रसंग में श्री राम को देखने जाती हैं। और जब वे भगवान् राम के सौन्दर्य को देखती हैं, तो—

हरषे जनु निज निधि पहिचाने। १।२३१।४

– उनके नेत्र उसी तरह प्रसन्न हो जाते हैं, जैसे कोई अपने निजी खजाने को, निजी निधि को पहचानकर होता है। गोस्वामीजी ने भगवान् राम के लिए 'निधि' की उपमा बार बार दी है। जैसे, जब विश्वामित्र महाराज दशरथ से दोनों पुत्रों को माँगकर पाते हैं, तो "विश्वामित्र महानिधि पाई" (१।२०८।३) जब भगवान् राम जनकपुर देखने जाते हैं तो गोस्वामीजी वहाँ पर भी लिखते हैं कि जनकपुर-वासी स्त्री-पुरुष इतने उत्साह से दौड़े, मानो दरिद्र को कहीं का खजाना लूटने मिल गया हो—

धाए धाम काम सब त्यागी।
मनहुँ रंक निधि लूटन लागी।। १।२१९।२

और जब श्री सीताजी भगवान् राम को देखती हैं, तब भी 'निधि' की उपमा दी गयी, पर यहाँ पर एक शब्द और जोड़ दिया गया। विश्वामित्रजी के लिए तथा जनकपुरवासियों के लिए तो 'निधि' कहा, पर सीताजी के लिए कहा,—**'निज निधि'** अपना खजाना। गोस्वामीजी की शब्द–रचना की सार्थ-

कता तो देखिए । दूसरे का खजाना मिल जाय, तो व्यक्ति लूटता फिरेगा—"**मनहुँ रंक निधि लूटन लागी**", पर यदि अपना खजाना मिल जाय तो—

लोचन मग रामहि उर आनी ।

दीन्हें पलक कपाट सयानी ॥ १।२३१।७

—तुरत कमरे में ताला लगा देते हैं कि अब वह न जाने पाए ।

अभिप्राय यह है कि ईश्वर निधि है और श्री सीताजी उस निधि की स्वामिनी हैं । जब एक ही ब्रह्म अपने आपको लीला के लिए दो भागों में विभक्त करता है, तो दोनों भागों में परस्पर एक सम्बन्ध की भूमिका बनती है । यदि श्री राम निधि हैं, तो सीता भक्तिस्वरूपा होने के नाते उनकी स्वामिनी हैं । वैसे दोनों तत्त्वत: जल और वीचि के समान अभिन्न हैं—

गिरा अरथ जल वीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न ।

बंदउँ सीता राम पद जिन्हहि परम प्रिय खिन्न ॥ १।१८

इसका सीधा-सा तात्पर्य यह है कि यदि हम किसी खजाने को पाना चाहें, तो उसके स्वामी के माध्यम से उसे पाना ही सही मार्ग है । अर्थात्, यदि हम ब्रह्म को पाना चाहें, तो भक्ति के माध्यम से उसे पाना ही सहज मार्ग होगा । अभिप्राय यह है कि श्री सीताजी के माध्यम से श्रीराम को पाने की चेष्टा करें भक्ति के माध्यम से ईश्वर के तत्त्व को समझने का प्रयास करें । मानो यही संकेत प्रकट करने के लिए गोस्वामीजी ने भगवान् राम को सीताजी की 'निज निधि' कहा । जो एक तत्त्व था, वह लीला में दो बना और उसके ये दोनों रूप पुष्पवाटिका में एक दूसरे के निकट आने का प्रयास करते हैं । पुष्पवाटिका में दोनों के मिलन की भूमिका बनती है । इस मिलन की विशेषता यह है कि दोनों की देहें अभी दूर हैं, यह विदेहनगर का मिलन है, भावनात्मक दृष्टि से मिलन है । भगवान् राम श्री लक्ष्मण से विदेहनगर में शृंगार की चर्चा करते हैं । इस मिलन की समग्रता को गोस्वामीजी अपनी कवित्त्वपूर्ण भावनात्मक और दार्शनिक पद्धति से प्रकट करते हैं । वे लिखते हैं—श्री सीताजी आती हैं, सरोवर में स्नान करती हैं और पार्वतीजी का पूजन करती हैं । फिर जो सखी श्री राम को देखकर आयी थी, उसे आगे करके अपनी सखियों के साथ श्री राम को खोजने निकल पड़ती हैं—"**चली अग्र करि प्रिय सखि सोई ।**" किसी ने पूछ दिया कि क्या सीताजी आगे आगे नहीं चल सकती थीं ? पीछे रह कर भी तो वह सखी मार्ग दिखा सकती थी । इसका उत्तर गोस्वामीजी एक दूसरी पंक्ति लिखकर देते हैं—"**प्रीति पुरातन लखइ न कोई**" । श्री सीताजी को लगा कि यदि मैं आगे आगे चली और उस स्थान पर पहुँच गयी, जहाँ श्री राम हैं,

तो सखियों को सन्देह हो जायगा कि मैं पहले से ही श्री राम से परिचित थी, इसलिए उन्होंने परिचय कराने वाली सखी को आगे कर लिया, जिससे उनके पुराने परिचय की झलक किसी को न मिल पाये। इस प्रकार सीताजी के द्वारा, जो प्राप्त था उसे अप्राप्त बनाकर उसकी प्राप्ति की प्रक्रिया का परिचय दिया जा रहा है। इसे यों कह लीजिए कि पुष्पवाटिका में दो प्रक्रियाएँ चल रही हैं — एक तो भगवान् राम के द्वारा सीताजी के प्रति अनुराग की और दूसरी, सीताजी के माध्यम से भगवान् राम के अन्वेषण की, यानी भक्ति के द्वारा भगवान् को पाने की। गोस्वामीजी लिखते हैं कि जब सीताजी श्री राम के अन्वेषण को चलीं, तो उनके आभूषणों की ध्वनि हुई। इस ध्वनि को श्री राम ने सुना और उनका कवित्व फूट पड़ा ! गोस्वामीजी बड़ी अद्भुत बात कहते हैं कि अभी श्री राम ने सीताजी के रूप को नहीं देखा है, केवल उनके नूपुरों की ध्वनि-भर सुनी है और उनमें अनुराग का उदय हो जाता है ! रूप के माध्यम से शृंगार-रस आते तो आपने बहुत सुना होगा, पर ध्वनि के भी माध्यम से शृंगार-रस आ सकता है, यह नयी बात है और गोस्वामीजी अपने विशेष दर्शन की अवतारणा के लिए यह नयी बात यहाँ पर रखते हैं। 'कंकन किंकर नूपुर' की ध्वनि सुनकर श्री राम के हृदय में कवित्व का उदय होता है। वे अयोध्या में कवि नहीं बन पाये। कवित्व का भाव भी किसी विशेष देश-काल में प्रकट होता है न ! इसका तात्पर्य यह है कि ब्रह्म बिना भक्ति के सहयोग से कवि बन भी कैसे सकता है ? ब्रह्म में बिवेक का प्राधान्य तो है, पर भक्ति के सम्पर्क से ही उसमें रस और अनुराग का उदय होता है। वैसे तो ब्रह्म विरागी है—**"अग जगमय सब रहित बिरागी"** (१।१८४।७), पर हमें बिरागी ब्रह्म की नहीं, अनुरागी ब्रह्म की आवश्यकता है। और उसमें यह अनुराग श्री किशोरीजी ही पैदा कर सकती हैं, हम नहीं। अतः हम किशोरीजी से अनुरोध करें कि आप ब्रह्म को अनुरागी बना दीजिए, लक्ष्मणजी से प्रार्थना करें कि आप जरा अनुराग-रस की वृद्धि में सहायक बन जाइए।

तो, सीताजी के नूपुरों की ध्वनि श्री राम को जनकपुर की पुष्पवाटिका में कवि बना देती है। इसे लेकर सीताजी की सखियाँ भगवान् राम पर व्यंग्य करती हैं। जब वे कोहबर में ले जाये जाते हैं, तो वहाँ वे चुप बैठे हैं। बड़े संकोची हैं, शीलवान् हैं, दृष्टि नीचे गढ़ी हुई है, आँखें उठाकर देख नहीं पा रहे हैं। एक सखी ने पूछा 'इनका संकोच दूर कैसे किया जाय ?' ससुराल की भाषा तो व्यंग्य और कटाक्ष की भाषा होती है। दूसरी सखी ने कहा —'जनकपुर में हजारों राजा आये, पर ऐसा अहंकारी राजकुमार तो आया ही नहीं !' फिर भी श्री राम पर कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई। लक्ष्मणजी को आश्चर्य हुआ

कि कोई मुझे अहंकारी कहे, तो कोई बात भी हो सकती है, पर श्री राम को अहंकारी कहना ! सखी ने अपने मन्तव्य का कारण बताते हुए कहा कि इन्हें अपनी सुन्दरता का इतना गर्व है कि अपने को छोड़कर किसी दूसरे को देखने के लिए सिर ही नहीं उठाते । फिर वह मानो शिक्षा देते हुए कहती है—**"गरब करहु रघुनन्दन जनि जियँ माँहि"** । लक्ष्मण जी से नही रहा गया, वे बोल उठे—हमारे राम में कोई गर्व नहीं है; फिर ये गर्व करें भी, तो क्या झूठा गर्व है ?' सखी ने पूछा—'किस बात का इनको इतना गर्व है ?' लक्ष्मणजी ने उत्तर में कहा—'जिस धनुष के न टूटने से तुम लोग इतनी निराश हो गयी थीं कि आँखों में आँसू भर आये थे, उसे किसने तोड़ा ?' जनकपुर की सखियाँ हार मानने वाली नहीं थीं । गोस्वामीजी के अनुसार वे तो श्रुति की ऋचाएँ थीं । सखी ने तुरन्त लक्ष्मणजी से पूछ दिया—'अच्छा, तुम तो परशुरामजी से कर रहे थे कि इन्होंने धनुष नहीं तोड़ा, वह टूट गया, अब कह रहे हो कि इन्होंने तोड़ा है । तो, तुमने जो पहले कहा था, वह सत्य है या अब सत्य बोल रहे हो ?' लक्ष्मणजी ने पूछा—'अच्छा, मान लो इन्होंने तोड़ा नहीं, तो धनुष फिर टूटा कैसे ?' सखी बोली—'उसका उत्तर तो सरल है । असल में ये धनुष तोड़ ही नहीं सकते । जिसे पुष्पवाटिका में फूल चुनने में पसीना आ जाता हो, वह भला धनुष कैसे तोड़ सकता है ? यह तो हम लोगों ने इन पर दया की । हमने प्रार्थना की कि इन्हें बल मिले, जिससे धनुष टूट जाय !'

और यह एक सैद्धान्तिक सत्य भी है । ब्रह्म अकर्ता है, वह अपने आप कुछ नहीं कर सकता । उसमें सामर्थ्य नहीं है। ब्रह्म सो गया, तो उठता नहीं। उठ गया तो बैठता नहीं; बैठ गया तो चलता नहीं, और चलने लगे तो क्रिया करता नहीं । उसमें जो क्रिया होगी, वह भक्त की भावना से होगी । इसलिए श्री राम धनुषयज्ञ में जो बैठे, तो उठते ही नहीं । तब पहले लक्ष्मणजी को गर्जना करके उन्हें जगाना पड़ा और विश्वामित्रजी को कहना पड़ा—**"उठहु राम"**—राम, उठो, ऐसे बैठ मत जाओ, निर्गुण से सगुण बनकर भी क्या अकर्ता ही बने रहोगे ? और तब धनुष टूटता है । कैसे ?—

सुनि गुरु बचन चरन सिरु नावा ।
हरषु बिषादु न कछु उर आवा ।। १।२५।३।७

—श्री राम गुरु के वचन सुन कर उठते हैं और चरणों में सिर नवाते हैं । उनमें न हर्ष है, न विषाद । हर्ष और विषाद न हो, तो क्रिया की स्फुरणा कैसे होगी और यदि क्रिया की स्फुरणा न हो, तो धनुष कैसे टूटेगा ? इसलिए जनकपुर की स्त्रियाँ जो कहती हैं कि हमने प्रार्थना करके श्री राम को बल दिया है,

उसमें कोई बेतुकी बात नहीं है, क्योंकि भक्तों की भावना ही तो ब्रह्म में क्रिया उत्पन्न करती है । सारे जनकपुरवासी अपने पुण्य को याद करते हैं

बंदि पितर सुर सुकृत सँभारे ।
जौ कछु पुन्य प्रभाऊ हमारे ।।
तौ सिव धनु मृनाल की नाई ।
तोरहूँ रामु गनेस गोसाई ।। १।२५४।७-८

—वे पितर और देवताओं की वन्दना करते हैं और प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि हे गणेश गोसाई, यदि हमारे पुण्यों का कुछ भी प्रभाव हो, तो रामचन्द्रजी शिवजी के धनुष को कमल की डण्डी की भाँति तोड़ डालें ।

गणेश देवता का चुनाव भी कैसा बढ़िया किया । शिव या पार्वती या विष्णु को नहीं चुना, सोचा कि तोड़ने का काम तो हाथी ही बढ़िया करेगा, इसलिए गणेश को चुना । फिर यह भी ध्यान आया कि कहीं धनुष टूटने पर शंकरजी रुष्ट न हो जायँ कि हमारा धनुष किसने तोड़ दिया, इसलिए अच्छा होगा कि बेटे से तुड़वाओ । बेटा यदि सहायता करेगा, तो बाप को चुप रह जाना पड़ेगा । यदि आपकी वस्तु कोई दूसरा तोड़ दे, तो आप रुष्ट हो जाएँगे पर यदि आपका छोटा लड़का तोड़ दे, तो आप कहेंगे कि भई, क्या करें, लड़के ने तोड़ दिया है ।

इसीलिए सखी लक्ष्मणजी के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहती है 'धनुष हमारी सहायता से तोड़ा गया है, इसमें राम की क्या विशेषता है ? इसलिए इन्हें गर्व नहीं करना चाहिए ।' लक्ष्मणजी इस पर बोल उठे, 'अच्छा, जब इन्होंने अहल्या का उद्धार किया, तब तो तुम लोग नहीं थीं, फिर वह कैसे हुआ ?' सखी ने व्यंग्य करते हुए कहा, 'यदि इनमें इतनी ही सामर्थ्य होती, तो अयोध्या में कितने पत्थरों का इन्होंने उद्धार किया है बताओ ? वह कोई इनके चरणों का चमत्कार थोड़े ही था, वह तो इनके चरणों की धूल का चमत्कार था—

रावरि दोष न पाहन को पग धरि को भूरि प्रभाव महा । और जानते हो यह चमत्कार कब घटा ? जब ये अयोध्या छोड़कर, विश्वामित्रजी के आश्रम से जनकपुर की ओर चले । वह तो इस क्षेत्र की धूलि का चमत्कार था, इनके चरणों का नहीं !'

और वस्तुतः उद्धार तो भक्ति की धूलि से हुआ करता है, भक्ति के ज्ञान से नहीं । यदि ब्रह्म स्वयमेव परिवर्तन साधित करने में समर्थ होता, तब तो

उसे सबका उद्धार कर डालना चाहिए था, क्योंकि वह तो प्रत्येक के हृदय में बैठा हुआ है। पर ऐसा तो नहीं देखा जाता। दुष्वृत्तिसम्पन्न और दुष्कर्मी तो सर्वत्र सर्वकाल में देखे जाते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि जब तक उस अन्तःस्थ ब्रह्म में भक्ति के पथ की धूल जाकर लिपट नहीं जाती, तब तक उसमें उद्धार की सामर्थ्य नहीं आती है। इसलिए सखी ने लक्ष्मणजी से कहा कि इस उद्धार-सामर्थ्य पर भी इनका गर्व करना व्यर्थ है। इस पर लक्ष्मणजी पूछते हैं—'तो क्या ये अपने सौन्दर्य का भी गर्व नहीं कर सकते ?' सखी हँसकर कहती है—'इसमें भला गर्व की क्या बात ? ये जरा हमारी किशोरीजी की ओर तो देखें, ये तो किशोरीजी के सौन्दर्य की छाया लगते हैं, छाया !'—

गरब करहु रघुनन्दन जनि जियँ माहि।

आपन सूरत देखउ सिय की छाँहि ॥

सखियों ने कैसी सार्थक तुलना की ! श्री राम की श्यामता पर कटाक्ष करते हुए उसे सीताजी की गौरता की छाया निरूपित किया ! सच ही तो है, ब्रह्म कहाँ चलता है ? भक्तों का ईश्वर कब चलता है, कैसे चलता है ? व्यक्ति और छाया दोनों चलते हुए दिखायी देते हैं, पर नियम यह है कि छाया उधर ही चलेगी, जिधर व्यक्ति चलेगा। सखियों का अभिप्राय यह है कि श्री राम छाया हैं और सीताजी व्यक्ति। भक्ति की छाया है ईश्वर, जिधर भक्ति जायगी, भगवान् को उधर जाने की प्रेरणा प्राप्त होगी। इसलिए भक्त उस विरागी और निष्क्रिय ब्रह्म को अनुरागी और सक्रिय बनाने के लिए भक्ति से प्रार्थना करता है। आर इस सक्रियता की भूमिका जनकपुर की दिव्य पुष्प-वाटिका से प्रारम्भ होती है। यह विदेह की वाटिका है, जहाँ सीताजी अपनी अष्टसखियों के साथ ब्रह्म को खोजने निकलती हैं। ये अष्टसखियाँ हैं भक्ति के अष्टभाव। उनके आभूषणों की ध्वनि ज्योंही ब्रह्म के कानों में पहुँची कि समस्या का समाधान हो गया। ईश्वर को पुकारते तो हम सभी हैं, पर सन्देह बना रहता है कि वह सुनता भी है या नही ? शंका होती है कि इतनी दूर तक हमारी आवाज पहुँच भी पाती है या नहीं ? किसी ने तो कह ही दिया कि पुकारे जाओ, कभी न कभी तो उसके कान में भनक पड़ेगी—

कबहुँ तो दीनदयाल के भनक परेगी कान।

फिर किसी को सन्देह होता है कि वह हमारी पुकार भले ही सुन ले, पर हमारी भाषा समझेगा या नहीं ? गोस्वामीजी ने हिन्दी में रचना की, तो लोगों ने व्यंग से कहा—ईश्वर देववाणी समझेगा या यह गाँव की भाषा ? इन सब प्रश्नों का उत्तर आज सीताजी ने दे दिया। ईश्वर ने उनके आभूषणों

की आवाज सुनी । अब ये आभूषण किस भाषा में बोल रहे थे—देवभाषा में या हिन्दी में ? वे किस भाषा में उच्चारण कर रहे थे ? वस्तुतः वह अनुराग की भाषा थी, जो आभूषणों से निकल रही थी, और ईश्वर अनुराग की भाषा समझता है, उसे किसी व्याकरण की अपेक्षा नहीं है । वह तो अनुराग की धीमी से धीमी ध्वनि भी सुन लेता है—"चींटी के पग नूपुर बाजे वह भी साहिब सुनता" । और आज पुष्पवाटिका में अनुराग की यह ध्वनि सुनकर भगवान् श्री राम के अन्तःकरण में कवित्व फूट पड़ा । जब कविता बनने लगी, तो श्रोता अवश्य चाहिए । यह श्रोता उन्हें श्री लक्ष्मण में प्राप्त होता है, जो सदैव उनके साथ हैं । श्री लक्ष्मण ऐसे साथी हैं, जो जब जैसा आवश्यक होता है वैसा बन जाते हैं—मंत्री की आवश्यकता हो तो मंत्री बन जाते है पुत्र की आवश्यकता हो तो पुत्र, मित्रकी आवश्यकता हो तो मित्र और श्रोता की आवश्यकता हो तो श्रोता । और बड़े अद्‌भुत श्रोता हैं ये लक्ष्मण, सुनते तो पूरा हैं, पर बोलते कुछ नहीं । भगवान् राम पूरी कविता सुना गये—

कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि ।
कहत लखन सन रामु हृदयँ गुनि ॥
मानहुँ मदन दुंदुभी दीन्ही ।
मनसा बिस्व विजय कहँ कीन्ही ॥ (१।२२९।१-२)

—लक्ष्मण ! मुझे तो ऐसा प्रतीत हो रहा है कि कामदेव बाद्य बजाता हुआ विश्व-विजय का संकल्प लेकर यात्रा को निकला है, यह आभूषणों की ध्वनि नहीं, यह तो मानो कामदेव की दुन्दुभि बज रही है ! पर एसी सुन्दर कविता सुनकर भी लक्ष्मण मौन रहते हैं । यह क्या प्रदर्शित करता है ?

जब आप नदी में स्नान करने जाते हैं, तो कभी आप भीतर गोता लगाते हैं और कभी बाहर आ जाते हैं । स्नान की प्रक्रिया में जल के भीतर डूबना और उसके बाहर आना ये दोनों प्रक्रियाएँ शामिल हैं । इसी प्रकार कभी मुखरित वाणी से, ध्वनि निकालते हुए, सराहना करना यह प्रशंसा करने की एक प्रक्रिया है और कभी वाणी का मौन होकर व्यक्ति का अपने भीतर डूबकर शान्त हो जाना यह उसकी दूसरी प्रक्रिया है । भगवान् श्री राम की कविता सुनकर लक्ष्मणजी किस प्रकार प्रशंसा करें ? उनकी स्थिति बड़ी कठिन है । वे श्रृंगार-रस के उपभोक्ता कैसे बनें ? गोस्वामीजी से पूछा गया कि जहाँ आप शक्ति और ब्रह्म का मिलन करा रहे हैं, श्रंगार-रस का प्रसंग उठा रहे हैं, वहाँ आप लक्ष्मणजी को क्यों उपस्थित करते हैं ?

इसका उत्तर बड़ा सार्थक दिया गया । लक्ष्मणजी हैं शेष और भगवान् नारायण शेषशय्या पर सोते हैं । शय्या ही शृंगार-रस में मूक साक्षी होती है । वह निरपेक्ष होती है, वह समग्र शृंगार की द्रष्टा के रूप में सहायक तो है, पर वह भोक्ता नहीं है । उसे कोई संकोच नहीं है क्योंकि भले ही व्यवहार में तृतीय दिखायी देता हो, पर वस्तुतः कोई तृतीय नहीं है । इसीलिए लक्ष्मण भगवान् राम की कविता सुनकर भी मौन रहते हैं—शय्या के समान मौन रहकर अपनी उपस्थिति के भान को दबाये रहते हैं । पहली बार, आभूषणों का शब्द सुनकर जब श्री राम ने कविता की, तब लक्ष्मण मोन रहे थे । दूसरी बार, सीताजी का सौन्दर्य देखने के उपरान्त जब उन्होंने श्री लक्ष्मण के समक्ष अपनी मनोदशा का वर्णन करते हुए कहा था कि मेरा सहज-पवित्र मन जनकनन्दिनी के सौन्दर्य को देख अनुरागयुक्त हो गया है, तब भी लक्ष्मण मौन रहे थे । पूरा दिन मौन में बीत गया, सायंकाल एवं रात्रि भी मौन में व्यतीत हो गयी । जब दूसरे दिन प्रातःकाल हुआ और प्रभु ने कहा– "उयउ अरुन" (१।२३७।७), तब लक्ष्मणजी का मौन टूटा । प्रभु ने पूछा— लक्ष्मण, जरा निकलकर देखो तो सही कि सूर्य निकल आया है या नहीं, तब लक्ष्मण का भी कवित्व फूट पड़ा । अपने उस उत्तर में लक्ष्मणजी ने प्रभु के उस कवित्व को भी स्वीकृति दे दी, जो पहले दिन प्रभु के मुख से फूट पड़ा था । वे कह उठे—

बोले लखनु जोरि जुग पानी ।
प्रभु प्रभाउ सूचक मृदु बानी ॥

अरुनोदयँ सकुचे कुमुद उडगन जोति मलीन ।
जिमि तुम्हार आगमन सुनि भए नृपति बलहीन ॥(१।२३८)

नृप सब नखत करहिं उजिआरी ।
टारि न सकहिं चाप तम भारी ॥
कमल कोक मधुकर खग नाना ।
हरषे सकल निसा अवसाना ॥
ऐसेहिं प्रभु सब भगत तुम्हारे ।
होइहहिं टूटें धनुष सुखारे ॥

प्रभु ने हँसकर कहा—लक्ष्मण ! तुम तो ज्योतिषी भी बन गये । आगे क्या होनेवाला है यह सब तुमने बता दिया ! तो, लक्ष्मणजी भगवान् राम के

साथ सब प्रकार की भूमिका निभा जाते हैं। उन्हें अपने ऊपर पूरा नियंत्रण है। उन्हें अपने कर्तव्य का पूरा ज्ञान है। वे अत्यन्त अनुशासित हैं। शृंगार-रस की अभिव्यक्ति में जब भगवान् राम की वाणी प्रगल्भ हो उठती है तो श्री लक्ष्मण अपने शेषत्व का स्मरण कर मौन रहते हैं। लोग उन्हें न समझने के कारण ही 'खोट' और 'निरंकुश' आदि संज्ञा दे बैठे थे। परशुराम-लक्ष्मण संवाद के प्रसंग में जनकपुरवासी कह बैठे—'**छोट कुमार खोट बड़ भारी**''। परशुराम ने तो उन्हें ''**निपट निरंकुस**'' की ही उपाधि दे दी थी। महाराज जनक ने भी कह दिया था—**मष्ट करहु अनुचित भल नाहीं**''। इस पर प्रभु ने लक्ष्मणजी की ओर आँखें तरेरकर देखा था– ''**नयन तरेरे राम**''। तब परशुराम को बड़ी प्रसन्नता हुई थी, सोचा था कि चलो, राम ने भी भौंहें टेढ़ी कर लक्ष्मण के टेढ़ेपन, का प्रमाण-पत्र दे दिया है। पर क्या प्रभु ने परशुराम का पक्ष लेते हुए नेत्र तरेरे थे ? नहीं, बल्कि इस क्रिया के द्वारा उन्होंने लक्ष्मण की सबसे अधिक प्रशंसा की थी। कैसे ? ज्योंही उन्होंने नेत्र टेढ़े कर लक्ष्मणजी की ओर देखा, त्योंही वे टेंढ़ी वाणी बोलना बन्द कर गुरू के समीप चले गये —''**गुर समीप गवने सकुचि परिहरि बानी बाम**'' (१।२७८)। मानो भगवान् राम ने परशुरामजी को यह दिखा दिया कि लक्ष्मण तो इतना अनुशासित है कि आँखों का इशारा भी मान जाता है, अगर वह शब्द से न मानता दिखायी देता हो, तो वह मनवाने वाले की भूल होगी।

ऐसे अनुशासित लक्ष्मणजी पुष्पवाटिका में भगवान् राम के हृदय से फूटने वाली कविता को मौन रहकर सुनते हैं और फिर संकेत से ही वे प्रभु को लताकुंज में ले जाते हैं। वहाँ वे एक नया काम करते हैं। जो हाथ धनुष-बाण चलाया करते थे, अपने उन हाथों में फूल का दोना, फूल की कलियाँ लेते हैं और प्रभु के माथे को सजाने लगते हैं। लक्ष्मणजी को लगता है कि अनुराग की इस दिव्य भूमि में दूल्हे का शृंगार तो हो जाय। प्रभु पूजा के लिए पुष्प चुनने आये थे, इसलिए मर्यादा का घ्यान रखते हुए उन्होंने मुकुट भी धारण नहीं किया था। अब लक्ष्मणजी उनके पूरे माथे में फूलों की कलियाँ लगा देते हैं। भगवान् राम जब पुष्पवाटिका में आये, तो उन्हें देख मयूर नाचने लगा था। उसका जो पंख गिरा था, उसे लक्ष्मणजी ने उठा लिया और प्रभु के माथे पर लगा दिया। इस प्रकार जब फूलों और मोरपंख से लक्ष्मणजी ने प्रभु को सजा दिया, तो धीरे से उन्होंने प्रभु को संकेत किया कि अव लताकुंज से बाहर निकलिए। और भगवान् राम को अपनी सारी कविता का मानो उत्तर मिल गया। प्रभु ने कहा था कि लक्ष्मण, मेरे हृदय

में अनुराग का उदय हो गया है, और लक्ष्मणजी ने प्रभु के सिर पर मोरपंख बाँधकर मानो घोषणा कर दी कि आज तक जो ब्रह्म निष्पक्ष था, वह अब पक्षधर हो गया है। इस प्रकार विरागी और निष्पक्ष ब्रह्म को अनुरागी और पक्षधर बनाकर लक्ष्मणजी ने जीव की समस्या का समाधान प्रस्तुत किया।



षष्ठ व्याख्यान

पिछली चर्चाओं में हमने देखा कि श्री लक्ष्मण की भूमिका के बिना भगवान् राम का चरित्र अधूरा है। भगवान् राम की भूमिका किसी प्रकार को भी क्यों न हो, श्री लक्ष्मण उसमें प्रेरक हैं। शृंगार-रस में लक्ष्मण मौन हैं, निःशब्द हैं। वे जानते हैं कि अनुराग में शब्द बाधक है। अनुराग-रस में डूबने के लिए काल की अनुभूति की आवश्यकता नहीं। जैसे घण्टा बज उठा। उसकी ध्वनि कानों में गयी और व्यक्ति को समय का बोध हुआ। अब यह समय का बोध व्यवहार के लिए तो आवश्यक है, पर भक्तिरस में डूबने में वह बाधक है। काल का बोध जितना मिटेगा, व्यक्ति उतना ही भक्तिरस में डूबेगा। व्यक्ति से बड़ा देश है और देश से बड़ा काल, इसलिए व्यक्ति को देश और काल दोनों की मर्यादा की रक्षा करनी चाहिए, लेकिन जब वह कालातीत ईश्वर में प्रवेश करना चाहे, तब उसे काल की विस्मृति करनी चाहिए। इसीलिए गोस्वामीजी कहते हैं कि जब भगवान् राम का अवतार हुआ तो एक महीने का दिन हो गया, मानो घड़ी की गति ही रुक गयी। सूर्य आकाश की, विराट् की घड़ी है और श्री राम के अवतरण के समय उसकी गति अवरुद्ध हो जाती है। इसलिए पुष्पवाटिका में श्री लक्ष्मण शृंगार-रस में सहायक तो होते हैं, पर स्वयं अपनी उपस्थिति का भान नहीं होने देते। आगे चलकर जब श्री सीताजी की सखियाँ उपस्थिति का भान कराती हैं, तब वियोग होता है। सखियों को काल का ध्यान हो आता है और उन्हें लगता है कि अब अत्यन्त बिलम्ब हो गया, शीघ्र लौट चलना चाहिए—**"भयउ बिलंबु मातु भय मानी" (१।२३३।७)**।

तो लक्ष्मणजी का पुष्पवाटिका में यह जो मौन है, वह अनुराग की भूमिका के सर्वथा उपयुक्त है। प्रसंग चल रहा था कि श्री लक्ष्मण प्रभु को लताकुंज में लेकर जाते हैं। सखी श्री राम को फूल चुनते हुए देखकर सीताजी को बताने के लिए गयी थी, वह जब सीताजी को अन्य सखियों के साथ लेकर वापस आती है, तो श्री राम वहाँ नहीं दिखते, जहाँ वह उन्हें देख गयी थी। वह व्याकुल होकर कहती है कि मैंने तो उन्हें यहीं पर देखा था, पता नहीं कहाँ चले गये ! इतने में उन लोगों को लता की ओट में श्री राम दिखायी देते हैं।

गोस्वामीजी यह तो स्पष्ट नहीं लिखते कि लताकुंज में क्या हो रहा था, पर जब उसमें से श्री राम प्रकट होते हैं, तब लगता है कि श्री लक्ष्मण ने वहाँ पर अपनी भूमिका सम्पन्न कर ली है—निःशब्द और विरागी रहकर। विरागी इस अर्थ में कि वे शृंगार-रस की भूमिका में रहकर भी शृंगार-रस के उपभोक्ता नहीं हैं। श्री राम जिस समय लताकुंज से प्रकट होते हैं, उसका एक चित्र प्रस्तुत करते हुए गोस्वामीजी कहते हैं कि सीताजी नेत्र बन्द कर श्री राम का ध्यान कर रही हैं और सखी कहती है कि एक बार नेत्र खोलकर दर्शन तो कर लीजिए। यहाँ पर गोस्वामीजी ने प्रभु की जो झाँकी प्रस्तुत की है, वह प्रभु की अन्य झाँकियों से भिन्न है। जो लोग 'राम चरितमानस' को अर्थ और विचार की दृष्टि से बहुत ध्यान से पढ़ते हैं, वे जानते होंगे कि उसमें भगवान् राम की अनेक झाँकियाँ हैं ओर प्रत्येक झाँकी में उनका एक अलग रूप है। जब श्री राम किसी भक्त के सामने प्रकट होते हैं, तब उसकी दृष्टि उनके चरणों की ओर चली जाती है। जब वे किसी दूसरे के सामने आते हैं, तब वह उनके श्रीमुख को देखने लगता है। कोई उनकी भुजाओं की ओर निहारने लगता है। किसी की दृष्टि सर्वप्रथम प्रभु के हृदय की ओर चली जाती है। भावना को प्रकट करने की यह जो शैली है, उसे गोस्वामीजी एक भिन्न ढंग से लताकुंज से प्रकट हुए प्रभु की झाँकी में अभिव्यंजित करते हैं।

एक व्यक्ति, एक भक्त, जो दास्य भाव से भगवान् राम की आराधना करता है, जब श्री राम की ओर देखता है, तो उसकी दृष्टि स्वभावतः उनके चरणों की ओर जाती है। श्री हनुमानजी ने जब उन्हें पहली बार देखा था तो उनका ध्यान सबसे पहले चरणों की ओर गया था, उन्होंने कहा था—आपके चरण तो बड़े कोमल हैं—

कठिन भूमि कोमल पद गामी।
कवन हेतु बिचरहु बन स्वामी ॥ ४।०।८

जब मनु के सामने प्रभु प्रकट हुए तब मनु ने दृष्टि उठाकर सबसे पहले प्रभु के चरणों को नहीं देखा। क्यों ? इसलिए कि हनुमानजी की दृष्टि में प्रभुस्वामी थे पर मनु उन्हें अपना पुत्र बनाने की कामना से प्रेरित हो तप कर रहे थे। इसीलिए जब मनु दृष्टि उठाकर देखते हैं, तब

सरद मयंक बदन छबि सींवा।
चारु कपोल चिबुक दर ग्रीवा ॥ १।१४६।१

—प्रभु का मुख और कपोल उन्हें पहले दिखायी पड़ता है। एक माँ या पिता जब अपने बालक की ओर देखेगा, तो वह उसके चरणों को थोड़े ही पहले देखेगा, उसकी दृष्टि तो बालक के मुख की ओर ही जाएगी। और जब विभीषण भगवान् राम को देखते हैं, तो न तो चरणों में उनकी दृष्टि जाती है,। न मुख में, वे तो प्रभु की भुजाएँ पहले देखते हैं—

दूरिहि ते देखे द्वौ भ्राता।
नयनानंद दान के दाता॥
भुज प्रलंब·········।५।४४।२।४

—देखते हैं कि प्रभु की भुजाएँ कितनी लम्बी हैं! यह मित्र की दृष्टि है। विभीषण तो सखा हैं न, सखा का ध्यान भगवान् राम का लम्बी भुजाओं पर जाता है, जिनसे वे सखा को अपने आलिंगन-पाश में बाँध मैत्री का परिचय देंगे।

पर पुष्पवाटिका में जब प्रभु लताकुंज से प्रकट होते हैं, तो सखियों की दृष्टि न तो उनके चरणों पर जाती है, न मुख पर और न भुजाओं पर, वह तो उनके मस्तक पर जाती है। यह लक्ष्मणजी की रचना का आकर्षण था। जब सखी के कहने से सीताजी अपने नेत्र खोलती हैं, तब क्या देखती हैं?—

मोरपंख सिर सोहत नीके।
गुच्छ बीच बिच कुसुम कली के॥
भाल तिलक श्रमबिंदु सुहाए।
श्रवन सुभग भूषन छवि छाए॥ १।२३२।२-३

—श्रीराम के मस्तक पर मोरपंख सुशोभित हैं और उनके बीच बीच में फूलों की कलियों के गुच्छे लगे हैं। इसमें श्री लक्ष्मण की भूमिका है। उनके द्वारा की गयी रचना की दो वस्तुएँ इतनी महत्त्वपूर्ण हो गयीं कि सबसे पहले सखियों का ध्यान उन्हीं दो वस्तुओं की ओर जाता है—मयूरपंख और फूल की कलियाँ। मयूरपंख तो श्रीकृष्ण का बहुत काल तक संगी रहा। वृन्दावन की सारी लीला का हर क्षण मयूरपंख से जुड़ा हुआ है। बाद में मथुरा-द्वारका में भले ही श्रीकृष्ण मयूरपंख न लगाते हों, पर वृन्दावन में तो वे नित्य धारण करते रहे। श्री राम के चरित्र में मयूरपंख का वर्णन और कहीं नहीं आता है, केवल पुष्पवाटिका में, अनुराग के प्रसंग में वह उनके मस्तक पर दिखायी दे रहा है। गोस्वामीजी यहाँ पर भाषा-शास्त्र की दृष्टि से एक अलग कल्पना करते हैं।

'दोहावली रामायण' में उनसे पूछा गया कि मयूर पक्षी को मोर क्यों कहते हैं ? भाषाविद् उत्तर में कहेगा कि मयूर शब्द बिगड़कर मोर हो गया। उसकी दृष्टि भाषा पर, व्याकरण पर है । पर भक्त की दृष्टि भाषा और व्याकरण से आगे बढ़कर भाव पर जाती है । गोस्वामीजी श्लेष से मोर का एक अर्थ लेते हैं 'मेरा' । जब हम किसी वस्तु को अपना कहना चाहते हैं, तो 'मोर' शब्द का प्रयोग करते हैं; यथा **"मोर दास कहाइ नर आसा"** (७।४५।३) । गोस्वामीजी प्रश्न उठाते हैं कि इस मयूर पक्षी में कौनसा ऐसा गुण है कि सारे संसार के लोग इसे 'मोर-मोर' कहते हैं ? उन्हें लगता है कि मयूर में तो कोई गुण ही नहीं है । 'तन विचित्र'—उसका शरीर देखो तो विचित्र है, लम्बाई-चौड़ाई में कोई सन्तुलन नहीं । फिर, 'कायर बचन'—उसकी बोली सुनो तो उसमें कायरता है । 'अहि अहार'—और उसका भोजन देखो तो साँप का भक्षण करता है। तो, शायद उसका हृदय अच्छा हो ? नहीं, वह भी अच्छा नहीं—'चित घोर' । जब उसमें कोई गुण ही नहीं, तब भला उसे 'मोर' क्यों कहते हैं ? गोस्वामीजी को पुष्पवाटिका की याद हो आती है और वे कह उठते हैं—

तन विचित्र कायर बचन अहि अहार चित घोर ।
जब ते हरि भये पक्षधर तब ते कह सब मोर ।।

—जब से भगवान् ने उसका पक्ष धारण कर लिया, तब से लोग उसे 'मोर-मोर' कहने लगे ! भले ही किसी में न्यूनता हो, कमी हो, पर जब भगवान् उसे स्वीकार कर लेते हैं, तो सभी उसे अपना बना लेते हैं ।

अच्छा, तो श्री लक्ष्मण ने भगवान् के सिर पर मोरपंख लगाने के लिए यही स्थान क्यों चुना ? अयोध्या में तो कभी उन्होंने उनके मस्तक पर मोर पंख नहीं लगाया । वास्तव में श्री लक्ष्मण इस श्रृंगार के द्वारा एक नयी भूमिका प्रस्तुत करते हैं । उनका तात्पर्य यह है कि यदि कोई भगवान् का मोर बनना चाहे तो उसे अयोध्या में नहीं, जनकपुरी में जन्म लेना चाहिए । जो भक्ति का मोर होगा, वही राम का मोर होगा। जो भक्ति का अपना नहीं होगा, वह 'भगवान् का भी अपना नहीं होगा । भगवान् का मोर वही होगा, जो भक्ति की वाटिका में पालित है, जो भक्ति का पक्षधर है । गोस्वामीजी के लिए पक्षी पक्षपात का प्रतीक है । भक्ति का अर्थ ही है पक्षपात । गोस्वामीजी उत्तरकाण्ड में संकेत देते हैं कि भक्ति के आचार्य काकभुशुण्डिजी पक्षी हैं । पक्षी शब्द के दो अर्थ होते हैं एक तो आकाश में उड़नेवाला पक्षी और दूसरा वह, जिसके हृदय में किसी के प्रति पक्षपात हो । ज्ञानी निष्पक्षता का दावा करता है, पर भक्त ऐसा दावा नहीं करता । भक्त तो कहता है कि हम पक्षपाती हैं, और

जब भक्त पक्षपाती बनता है, तो भगवान् पक्षधर बनते हैं। न तो भक्त निष्पक्ष है और न भगवान् ही। भगवान् तो श्रीमद्भागवत में कह देते हैं– **"मदन्यत् तेन जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि" (९।४।६८)** –'वे (भक्त) मेरे अतिरिक्त और कुछ नहीं जानते तथा मैं उनके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं जानता।' तो, पुष्पवाटिका में साक्षात् पराभक्तिस्वरूप किशोरी जी के सम्मुख जब विरागी और निष्पक्ष ब्रह्म प्रकट होता है, तो वह अनुरागी और पक्षपात से युक्त हो जाता है और अपने माथे पर मोरपंख धारण कर लेता है। यह मोरपंख ईश्वर के अनुराग को ही प्रकट करता है। सीताजी का भगवान् राम के प्रति अनुराग तो प्रकट ही है। जब वे श्री राघवेन्द्र के सौन्दर्य को देखती हैं, तो उनका प्रभु के प्रति अनुराग उनके हाव-भाव से प्रकट हो जाता है। पर श्री राम का उनके प्रति अनुराग है या नहीं ? सखियाँ अपने वर्णन के माध्यम से सीताजी को श्री राम के अनुराग के प्रति आश्वस्त करतीं हैं ! वे सीताजी से कहती हैं— जरा मोरपंख को देखिए ! उनका तात्पर्य यह था कि जब श्री राघवेन्द्र आपकी वाटिका के मोर पंख को इतना सन्मान दे रहे हैं कि उसे सिर पर धारण कर लिया है , तब फिर वे आपको कहाँ पर धारण करेंगे इसकी कल्पना कर लीजिए। जो व्यक्ति आपकी छोटी से छोटी वस्तु का इतना सन्मान करता है, वह फिर आपका कितना सन्मान न करेगा ! तो, पुष्पवाटिका का मोरपंख और पुष्प की कलियाँ यही संकेत करते हैं कि भगवान् भक्तों के पक्षधर हैं। और भगवान् को इस प्रकार पक्षधर बनाने का कार्य श्री लक्ष्मण के द्वारा सम्पन्न होता है। वे मौन और निःशब्द रहकर पुष्पवाटिका में अपनी यह महत्वपूर्ण भूमिका सम्पन्न करते हैं।

यह देखकर आश्चर्य होता है कि जो लक्ष्मणजी पुष्पवाटिका के शृंगार-रस के प्रसंग में इतने निःशब्द हैं, वे अन्य प्रसंगों में इतने मुखर कैसे हो उठते हैं ! यही लक्ष्मणजी की भूमिका की विशिष्टता है। हर भूमिका के अनुरूप वे अपने को ढाल लेते हैं। वैसे तो काम, क्रोध और लोभ की बार-बार निन्दा की जाती है। 'रामचरितमानस' में उनकी निन्दा करते हुए कहा गया है—""**तात तीनि अति प्रबल खल काम क्रोध अरु लोभ" (३।३८क)**। फिर गीता में भी **"काम एष क्रोध एष रजोगुण-समुभ्दवः। महाशनो महापाप्मा 'विद्धयेनमिह वैरिणम् ३।३।७** कहकर उनकी निन्दा की गयी है। लेकिन जनकपुर के प्रसंग की विलक्षणता यह है कि वहाँ तीन प्रसंगों में इन्हीं तीन विकारों की स्वीकृति है। पुष्पवाटिका में काम की स्वीकृति है तो धनुषयज्ञ में क्रोध की और विवाह के मण्डप में लोभ की। इसका तात्पर्य क्या है ? यह सही है कि काम, क्रोध और लोभ त्याज्य हैं, पर प्रश्न यह है कि क्या कोई व्यक्ति या समाज ऐसा हो सकता है, जो

काम, क्रोध और लोभ से शून्य हो ? यह सम्भव नहीं; क्योंकि कामशून्य समाज में कोई सृष्टि नहीं हो सकेगी, क्रोधशून्य समाज में किसी के अन्याय के विरुद्ध संघर्ष करने की वृत्ति नहीं हो सकेगी और लोभविहीन समाज में किसी निर्माण की प्रेरणा नहीं प्राप्त हो सकेगी । काम, क्रोध और लोभ तो स्वाभाविक रूप से व्यक्ति के जीवन में रहते हैं । इसीलिए गोस्वामीजी उत्तरकाण्ड में उनकी तुलना वात, पित्त और कफ से करते हैं । कहते हैं, जैसे शरीर के संचालन के लिए वात, पित्त और कफ की आवश्यकता होती है, वैसे ही मन में भी वात, पित्त और कफ हैं । वे क्या हैं—

काम वात कफ लोभ अपारा ।
क्रोध पित्त नित छाती जारा ॥ ७।१२०।३०

—काम वात है, क्रोध पित्त और लोभ कफ । तो जैसे वात, पित्त और कफ में से किसी एक के कुपित होने से व्यक्ति अस्वस्थ हो जाता है, वैसे ही जब काम, क्रोध या लोभ तीव्र हो जाता है, तब व्यक्तिगत या सामाजिक जीवन में अशान्ति या अस्वस्थता पैदा हो जाती है । जब शरीर में कफ, वात या पित्त की प्रबलता होती है, तो रोग उत्पन्न होता है और हम दवा के लिए वैद्य के पास जाते हैं । वैद्य दवा देकर कफ, वात और पित्त को नष्ट नहीं करता, बल्कि इन तीनों को सम करने का प्रयत्न करता है । यदि वैद्य ऐसा सोचे कि कफ, वात और पित्त ही रोग के कारण हैं, इसलिए चलो, इन तीनों को नष्ट ही कर दें, तब तो रोग के साथ रोगी भी मिट जायगा । शरीर में यदि कफ, वात और पित्त न रहें, तो व्यक्ति भी जीवित नहीं रहेगा । इसलिए वैद्य का कार्य यह है कि वह कफ, वात और पित्त को मिटाये नहीं, अपितु उनकी समता बनाये रखे । इसी प्रकार, व्यक्ति या समाज के मानसिक सन्तुलन के लिए काम, क्रोध और लोभ को नष्ट करना नहीं है, अपितु उनका सन्तुलित बनाना है । यदि सन्तुलित न हों तो काम, क्रोध और लोभ ही क्या, ब्रह्मचर्य भी घातक हो जाता है ।

इस सन्दर्भ में एक प्रश्न उठता है—ब्रह्मचर्य श्रेष्ठ है या विवाह ? 'राम-चरितमानस' में आपको दो पात्र ऐसे मिलेंगे, जिनमें एक जब विवाह करना चाहता था, तो प्रभु ने करने नहीं दिया और दूसरा जो विवाह करना ही नहीं चाहता था, उसे विवाह करने के लिए बाध्य किया । प्रथम थे नारद जी और दूसरे शंकरजी । यह बड़ी विचित्र बात है ! नारदजी विवाह के लिए इतने व्यग्र हैं कि स्वयं भगवान् से जाकर कहते हैं कि अपनी सुन्दरता मुझे दे दीजिए, जिससे मेरा विवाह शीघ्र हो जाय—

आपन रूप देहु प्रभु मोही ।
आन भाँति नहिं पावौं ओही ।। १।१३१।६

—और भगवान् ऐसी बाधा देते हैं कि उन्हें बन्दर की आकृति दे देते हैं तथा विश्वमोहिनी को स्वयंवरण करके ले जाते हैं । दूसरी ओर शंकरजी समाधि में बैठे हुए हैं, उनके सामने प्रकट होकर कहते हैं कि मैं आपसे माँगने के लिए आया हुआ हूँ और वह मुझे दीजिए । शंकरजी से भगवान् क्या माँगते हैं ?

अब विनती मम सुनहु सिव जौं मोपर निज नेहु ।
जाइ बिबाहहु सैलजहि यह मोहि माँगें देहु ।। १।७६

—आप पार्वतीजी से विवाह कर लीजिए । तभी तो जब भगवान् राम सीताजी के विरह में विलाप कर रहे थे, नारदजी ने उनसे पूछ दिया था—

तब बिवाह मैं चाहउँ कीन्हा ।
प्रभु केहि कारण करै न दीन्हा ।। ३।४२।३

नारदजी का तात्पर्य यह था कि आपने शंकरजी से विवाह के लिए आग्रह किया और जब मैं स्वेच्छा से विवाह करना चाहता था, तो आपने नहीं करने दिया । ऐसा क्यों ? इस पर भगवान् राम ने व्यंग्य-भरा मीठा उत्तर दिया था—

मारें प्रौढ़ तनय सम ग्यानी ।
बालक सुत सम दास अमानी ।। ३।४२।८

—शंकरजी मेरे बड़े बेटे हैं, ज्ञानी हैं और तुम नन्हे बालक हो, भक्त हो ! इसमें व्यंग्य क्या है ? प्रौढ़ लड़का विवाह न करे, तो घरवाले बाध्य करते हैं, पर यदि नन्हा बच्चा विवाह की चर्चा चलाए, तो उसकी बात घरवाले थोड़े ही सुनते हैं ! बच्चा यह थोड़े ही जानता है कि विवाह क्या होता है । वह यह भी नहीं समझता कि किससे विवाह करना चाहिए और किससे नहीं । वह तो विवाह के ताम-झाम और फौज-फटाके को देखकर ही विवाह के लिए तैयार हो जाता है । अगर उससे पूछा जाय कि किससे विवाह करोगे, तो शायद वह ऐसे व्यक्ति का नाम ले दे कि बड़े होने पर उसे सोचने में भी संकोच लगे कि मैंने किसका नाम ले दिया था । प्रभु का तात्पर्य यह था कि नारद, यदि तुम बड़े बच्चे होते, तो क्या मेरी माया से विवाह करने की बात सोचते ? जब तुमने मेरी माया से विवाह करने का संकल्प किया, तो उसी से मैं समझ गया कि तुम निरे बालक हो । नन्हा बालक यदि विवाह करना भी चाहे, तो उसे रोक देना

चाहिए, क्योंकि वह नहीं समझता कि विवाह क्या है। इसीलिए मैंने तुम्हें विवाह नहीं करने दिया।

इसका अभिप्राय यह है कि प्रश्न यह नहीं कि ब्रह्मचर्य श्रेष्ठ है या काम, प्रश्न यह है कि किस परिस्थिति में व्यक्ति विशेष के लिए क्या श्रेष्ठ है। शंकरजी की निष्कामता संसार के लिए घातक बन गयी थी। आप वह कथा जानते होंगे कि कैसे तारकासुर ने अपनी तपस्या से ब्रह्माजी को प्रसन्न कर वरदान माँगा कि मैं किसी के हाथों न मरूँ। जब ब्रह्माजी ने ऐसा वरदान देने में असमर्थता प्रकट की तो उसने कहा—अच्छा, ठीक है, यदि मैं मरूँ भी तो शंकरजी के औरस पुत्र के हाथों मरूँ, अन्य किसी के हाथों नहीं। और ब्रह्माजी 'तथास्तु' कह देते हैं। ऐसा वरदान माँगने के पीछे तारकासुर के मन में यह भावना काम कर रही थी कि कि शंकरजी तो निष्काम हैं, वे ऊर्ध्व समाधि में रहने वाले हैं, वे तो विवाह करेंगे नहीं। विवाह वही करता है, जिसके मन में काम होता है। और यदि शंकरजी विवाह करेंगे नहीं, तो उनके पुत्र होगा कैसे, और उनके पुत्र नहीं हुआ तो मुझे मारेगा कौन ? इसीलिए वह ब्रह्माजी से कहता है कि शंकरजी के औरस पुत्र को छोड़ कर और किसी के हाथों न मरूँ ! उसे भय है कि कहीं शंकरजी संकल्प से कोई पुत्र न खड़ा कर दें, इसलिए वह पुत्र के साथ 'औरस' विशेषण लगाता है। 'औरस' पुत्र के लिए तो शंकरजी को विवाह करना ही पड़ेगा और तारकासुर को विश्वास था कि शंकरजी विवाह नहीं करेंगे। असुरों का गणित भी बड़ा विचित्र होता था, योजना बड़ी लम्बी होती थी। तो, यदि शंकरजी निष्काम ही बने रहते, तो उनकी निष्कामता तारकासुर को अमर बना देती। और वह संसार के लिए बड़ा घातक होता। इसीलिए शंकरजी से भगवान् अनुरोध करते हैं कि वे विश्व के कल्याण के लिए काम को जीवन में स्वीकार कर पार्वतीजी से विवाह कर लें।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यदि काम लोक-कल्याण की सृष्टि करता है और उसमें से अनियंत्रण का रोग निकाल दिया जाता है, तो वह बड़ी आवश्यक वस्तु है। भले ही गोस्वामीजी यह मानते हैं कि—

जहाँ राम तहँ काम नहिं जहाँ काम नहिं राम।
तुलसी कबहुँ न रह सकै रवि रजनी इक ठाम॥

—राम और काम एक साथ नहीं रह सकते, तथापि पुष्पवाटिका में वे राम और काम को एक साथ लाते हैं। भगवान् राम ने लक्ष्मणजी से कहा—कामदेव वाद्य बजाता हुआ आक्रमण के लिए आ रहा है। वे लक्ष्मणजी से ऐसा क्यों कहते हैं ? —यह प्रदर्शित करने के लिए कि काम की भूमिका में भी लक्ष्मण

अपने कर्तव्य का निर्वाह किस प्रकार करते हैं । प्रभु का तात्पर्य यह है कि लक्ष्मण सदैव उनके साथ रहे हैं और हर प्रकार की परिस्थिति का सामना उन्होंने लक्ष्मण के साथ रहकर सफलतापूर्वक किया है । यहाँ भी जब काम प्रभु पर आक्रमण कर रहा है, तो लक्ष्मण साथ हैं । लक्ष्मणजी साक्षात् वैराग्य हैं । काम के आक्रमण के समय वैराग्य की भूमिका क्या होगी ?

यदि लक्ष्मणजी सही अर्थों में धर्म के तत्त्व को न जानते होते, तो कह देते कि काम आपको नहीं हरा सकता । पर उन्होंने संकेत से ठीक उल्टी बात कह दी । भगवान् राम के माथे पर मोरपंख लगाकर उन्होंने मानो पराजय-पत्र ही लिख दिया ! उनका तात्पर्य यह था कि महाराज, काम अकेले तो आपको जीत सकता नहीं, लेकिन जब वह भक्तिदेवी के नूपुरों का आश्रय लेकर आ रहा है, तो हार स्वीकार कर लेने में ही शोभा है । काम को गौरव प्रदान कीजिए, उसे पराजित करने के संकल्प की बात छोड़ दीजिए । योग में निष्कामता का आग्रह भले ही रहे, पर भक्ति में ऐसा आग्रह नहीं है ।

काम दो व्यक्तियों पर आक्रमण करता है—एक तो भगवान् शिव पर और दूसरे, भगवान् राम पर । जब वह शिव पर आक्रमण करता है, तो वे उसे जला देते हैं और जब वह भगवान् राम पर आक्रमण करता है, तो वे उसे स्वीकार कर लेते हैं । जब वह शिवजी पर आक्रमण करने आया, तो पार्वती से रहित होकर आया । जब भगवान् राम पर आक्रमण करने आया, तो सीताजी के चरणों का आश्रय लेकर आया । यदि काम श्रद्धा का आश्रय लेकर आता, तो शंकरजी भी उसे उसी प्रकार स्वीकार कर लेते, जिस प्रकार भक्ति का आश्रय लेकर आने पर उसे भगवान् राम ने स्वीकार कर लिया । संसार के साथ काम का सम्बन्ध अग्राह्य है, पर भक्ति के साथ वह आये, तो आपत्ति नहीं । जैसे माँ अपने बालक को सिखाती है कि किसी के घर में जाना, तो कुछ माँगना मत; किसी चीज को देखकर ललचाना मत । इसका मतलब यह नहीं कि माँ अपने बच्चे को केवल निष्कामता की शिक्षा देती है; वह उससे यह भी कहती है कि कोई जरूरत हो तो घर में माँगना । तात्पर्य यह है कि माँ अपने बालक को भले ही संसार के लोगों के सन्दर्भ में निष्काम देखना चाहती है, पर अपने सन्दर्भ में बालक का सकाम रहना ही उसे अभीष्ट है । इसी प्रकार पुष्पवाटिका के प्रसंग में, जहाँ काम भक्ति का आश्रय लेकर आता है, लक्ष्मणजी काम को गौरव प्रदान करते हैं, उसका विरोध नहीं करते । वे मौन रहकर भगवान् राम को मानो संकेत देते हैं कि प्रभो, अन्य युद्ध में तो मैं आपका सहायक बन सकता हूँ, पर इस युद्ध में आप मुझे मौन ही रहने दीजिए ! और सच भी तो है, जहाँ

तक भक्ति और ब्रह्म के सम्बन्ध की बात है, वहाँ वैराग्य की सत्ता नहीं आया करती ।

वैराग्य क्या है ? 'रामचरितमानस' में कहा गया है--**"बिरति चर्म संतोष कृपाना"** (६।७९।७) --वैराग्य ढाल है । प्राचीन काल के योद्धाओं का चित्र आपने देखा होगा । वे लड़ते समय अपने एक हाथ में तलवार ले कर आक्रमण करते थे और दूसरे में ढाल ले अपना वचाव । तो भगवान् राम की दृष्टि में वैराग्य ढाल है । ढाल का काम है रक्षा करना । ढाल स्वयं में अत्यन्त शुष्क होती है, गैण्डे की खाल से बनती है, उसमें रक्त का लेश नहीं होता । तो क्या जो व्यक्ति गैण्डे की खाल से बनी उस ढाल को धारण करता है, वह रक्त का विरोधी है, शुष्कता का प्रेमी है ? नहीं, ऐसा तो नहीं, बल्कि शरीर में अपने रक्त को बचाने के लिए इस वि-रक्त ढाल को आगे कर दिया जाता है, अर्थात् विरक्तता की आवश्यकता अनुरागरूप रक्त को बचाने के लिए है । वस्तुतः वैराग्य बाह्य वस्तु है और अनुराग आन्तरिक । वैराग्य के माध्यम से शुष्कता का प्रचार नहीं अपितु अनुराग की रक्षा है । और लक्ष्मणजी वैराग्यरूप होने के कारण यह भूमिका सम्पन्न करते हैं । यह काम के सन्दर्भ में उनकी भूमिका है ।

धनुषयज्ञ के मण्डप में क्रोध के सन्दर्भ में उनकी भूमिका के दर्शन होते हैं । वहाँ पर उन्होंने क्रोध किया । वैसे तो लक्ष्मणजी आदि से लेकर अन्त तक इतनी बार क्रोध करते हैं कि लगता है वे बड़े क्रोधी हैं इसी को दृष्टि में रखते हुए गोस्वामीजी ने लक्ष्मणजी की बन्दना में एक विरोधाभास रख दिया । वन्दना प्रारम्भ करते हुए उन्होंने पहला गुण लिखा

बन्दौं लछिमन पद जल जाता, सीतल (१।१६।५)

—'मैं लक्ष्मणजी के चरणकमलों की वन्दना करता हूँ, जो शीतल हैं ।' अब, यदि भरतजी के लिए शीतल शब्द का व्यवहार करते तो कोई सार्थकता थी, क्योंकि वे बड़े शीतल हैं । भगवान् राम भी शीतलता की मूर्ति हैं । पर लक्ष्मणजी और शीतलता —यह तो विरोधाभास है । उनमें शीतलता कहीं ढूँढे नहीं मिलती । जहां देखें, वहाँ उनके जीवन में कोध्र ही कोध्र । तब गोस्वामीजी का तात्पर्य क्या है ? वे क्यों उनकी वन्दना में सबसे पहले 'शीतल' शब्द का प्रयोग करते हैं ? कारण यह है कि ऊपर से देखने में तो लक्ष्मणजी अत्यन्त क्रोधी ही लगते हैं पर यदि अन्तरंग में पैठकर देखा जाय, तो उनमें शीतलता की अनुभूति होगी । लक्ष्मणजी को इस बात का प्रमाण-पत्र अनेक लोगों से मिला ।

जब गाँव की स्त्रियों ने सीताजी से पूछा कि ये दोनों कुमार तुम्हारे कौन हैं, तो उन्होंने पहले लक्ष्मणजी का परिचय देते हुए कहा—

सहज सुभाय सुभग तन गोरे ।

नामु लखनु लखु देवर मोरे ।। २।११६।५

—ये जो गोरे वर्ण के हैं, वे मेरे छोटे देवर हैं, लक्ष्मण इनका नाम है और वे स्वभाव के बड़े सीधे हैं !' जब अत्यन्त क्रोधी को सीधा होने का प्रमाणपत्र सीताजी देती हैं तो ऐसा लगता है कि बड़ाई कर रही हैं। अपने बेटे को तो सभी अच्छा होने का प्रमाणपत्र देते हैं । तो क्या सीताजी सचमुच पक्षपात कर रही हैं ? नहीं, क्योंकि परशुराम जो लक्ष्मण के परम विरोधी और आलोचक हैं, वे भी जाते जाते लक्ष्मणजी को प्रमाणपत्र दे जाते हैं—

अनुचित बहुत कहेउँ अग्याता ।

छमहु छमामंदिर दोउ भ्राता ।। १।२८४।६

—वे उन्हें 'क्षमामन्दिर' की उपाधि देते जाते हैं ।

सिद्धान्त की दृष्टि से भी यदि विचार किया जाय, तो लक्ष्मणजी को क्रोध सचमुच में नहीं आ सकता । उनमें जो क्रोध दिखायी देता है, वह फिर क्या है ? वह बनावटी है । थोड़ा विचार कर देखें कि क्रोध आता कैसे है । **'गीता'** में (२।६२) हम पढ़ते हैं—

ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते ।

संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ।।

—अर्थात्, यदि व्यक्ति विषय का चिन्तन करे तो उसके प्रति आसक्ति होती है । आसक्ति से उसे पाने की कामना जन्म लेती है और कामना से क्रोध उत्पन्न होता है। यह क्रोध आने की एक प्रक्रिया है। अब आप सोचिए लक्ष्मणजी किसका चिन्तन करते हैं ? 'रामचरितमानस' में लिखा हुआ है कि लक्ष्मणजी प्रतिक्षण एकमात्र श्री राम के चरणों का चिन्तन करते हैं । जब हनुमानजी लंका से लौटने लगे, तो माँ जानकी से पूछा कोई सन्देश ले जाना है ? माँ ने कहा सबसे पहले लक्ष्मण के चरणों में मेरा प्रणाम कहना—

अनुज समेतग हेहु प्रभु चरना ।

दीन बंधु प्रनतारति हरना ।।५।३०।३

यह सुनकर हनुमानजी चौंक पड़े। यह तो समझ में आता है कि माँ अपने पुत्र को आशीर्वाद दे, पर माँ का अपने पुत्र को प्रणाम करना समझ से परे की बात है। सीताजी हनुमान के असमंजस को ताड़ लेती हैं। वे संकेत करती हैं कि बड़े का छोटे को प्रणाम करना उचित तो नहीं प्रतीत होता, पर साधना और भक्ति के क्षेत्र में सम्बन्धों से श्रेष्ठता नहीं सिद्ध होती, वहाँ पर तो श्रेष्ठता की एक ही कसौटी है और वह है

पूजनीय प्रिय परम जहाँ तें।

सब मानिअहिं राम के नातें ॥२।७३।७

—जगत् में जहाँ तक पूजनीय और परम प्रिय लोग हैं, वे सब रामजी के नाते से ही पूजनीय और परम प्रिय मानने योग्य हैं। सीताजी का तर्क यह था कि जिस समय प्रभु बन के लिए अयोध्या से निकले, इन्होंने मुझे और लक्ष्मण दोनों को साथ में आने से मना किया। पर हम दोनों ने आग्रह किया कि नहीं, हम भी आपके साथ चलेंगे। अन्ततः हम दोनों के पैर उनके साथ चल तो पड़े, पर मेरे पैर तो गलत दिशा में मुड़ गये और लक्ष्मण के चरण आज भी ठीक ठीक श्रीराम के साथ चल रहे हैं। मैं तो श्री राम के पीछे थी और मेरे पीछे थे लक्ष्मण, पर मेरा ध्यान इधर उधर चला गया, किन्तु लक्ष्मण का ध्यान श्री राम के चरणों को छोड़ कहीं नहीं गया। प्रभु ने वन साथ चलने से मना करते हुए मुझसे कहा था कि वन में तुम्हें कष्ट होगा, पर मैंने उनसे विनती की थी कि नहीं, आप मुझे साथ ले चलिए, मैं प्रतिक्षण आपके चरणों पर दृष्टि रखूँगी, उससे मेरा सारा कष्ट दूर हो जायगा —**"छिनु छिनु चरन सरोज निहारी"** (२।६६।१)। पर मैं अपनी प्रतिज्ञा का निर्वाह न कर सकी, मेरी दृष्टि प्रभु के चरणों को छोड़ स्वर्णमृग की ओर चली गयी, इसीलिए मेरा पथ बदल गया। जो चरण प्रभु के साथ रहने थे, वे लंका की ओर आ गये। पर धन्य है लक्ष्मण, जिसने पूरी तरह व्रत का निर्वाह किया, जिसकी दृष्टि प्रभु के चरणों को छोड़ और कहीं नहीं गयी ! ऐसे लक्ष्मण से बढ़कर और किसके चरण वन्दनीय हो सकते हैं ?

और सचमुच, श्री लक्ष्मण के जीवन में प्रतिपल श्री राम का ही चिन्तन है, निरन्तर राम का ही स्मरण है। उनके नेत्रों में निन्द्रा के लिए भी स्थान नहीं है। हम लोग चाहे जितनी भक्ति करें, चाहे जितना चिन्तन में डूबे रहें पर रात्रि में तो नींद आ ही जायगी। किन्तु श्री लक्ष्मण हैं, जो नेत्रों में श्री राम को छोड़कर निद्रा को भी स्थान नहीं देते। ऐसे लक्ष्मण के मन में भला

कौनसी कामना आ सकती है ? सीताजी मानती हैं कि एक बार मुझमें कामना हो सकती है, पर लक्ष्मण के मन में किसी कामना का प्रवेश नहीं हो सकता। ऐसे निष्काम लक्ष्मण के मन में क्रोध का जन्म कहाँ से हो गया ? क्रोध तो काम के साथ चला करता है। और जब काम के अभाव में क्रोध दिखे, तो मानना पड़ेगा कि क्रोध केवल बाहरी है, अन्तरंग में नहीं है। लक्ष्मणजी में दिखनेवाला क्रोध केवल ऊपरी है, रंगमंच पर अभिनय कर रहे अभिनेता के क्रोध के समान है। अभिनेता क्रोध का अभिनय करता है, उसका वह क्रोध भी आनन्द वृद्धि ही करता है। वैसे ही लक्ष्मणजी का क्रोध भी वस्तुतः ताप का हेतु न होकर लीलारस की सम्पुष्टि करता है। तात्पर्य यह कि भगवान राम की भूमिका में सहायता के लिए क्रोध की भी अपेक्षा है।

और भी अन्तरंग में पैठें, तो एक विलक्षण तात्पर्य सामने आता है। जनक के धनुषयज्ञ में दो क्रोधी आये—एक लक्ष्मण और दूसरे परशुराम। प्रश्न है कि क्रोध करना चाहिए या नहीं ? उत्तर है—परशुराम की तरह क्रोध नहीं करना चाहिए, लक्ष्मण की तरह करना चाहिए। इसका क्या मतलब ? यह कि क्रोध दो तरह का होता है। वैसे जितने भी विकार हैं, वे सभी दो तरह के होते हैं काम, क्रोध और लोभ की प्रकृति यह है कि क्रोध तो भूतवादी है, काम वर्तमान वादी और लोभ भविष्यवादी। क्रोध जब आयगा, तब बीती बात पर आएगा कि ऐसा क्यों हुआ ! काम जब आएगा, तो यही कहेगा कि वर्तमान में जो सौन्दर्य दिखाई दे रहा है, वह श्रेष्ठ है, अतः उसी का आनन्द लो, सुख लो। और लोभ जब आएगा, तो भविष्य की ओर देखने के लिए हमें बाध्य करेगा कि बुढ़ापे में क्या होगा, आगे क्या होगा ? इस प्रकार क्रोध अतीत की ओर देखता है, काम वर्तमान की ओर और लोभ भविष्य की ओर। परिणाम क्या होता है ? तीनों काल नष्ट हो जाते हैं। पर यदि इनकी दिशाओं को मोड़ दिया जाय, तो एक बिलक्षण बात दिखाई देती है। यदि क्रोध को भूतवादी के बदले भविष्यवादी बना दिया जाय, तो उसका स्वभाव बदल जायगा। भूतवादी क्रोध अनर्थ करेगा, पर भविष्यवादी क्रोध उन्नति का, कल्याण का पथ प्रशस्त करेगा। बीती बात पर क्रोध करके अपने को जलाना व्यर्थ है, पर भविष्य की उन्नति के लिए यदि क्रोध किया जाय, तो ऐसा क्रोध सार्थक होगा। परशुराम क्रोध करते हैं कि धनुष क्यों टूट गया और लक्ष्मणजी क्रोध करते हैं, जिससे श्री राम उठकर, धनुष तोड़कर लोक-कल्याण करें, जनक की समस्या का समाधान करें। ये क्रोध के दो रूप हैं, जिनमें हमें टकराहट दिखायी देती है।

गोस्वामीजी और भी अन्तरंग सूत्र देते हैं। वे लक्ष्मणजी को एक ओर तो

वैराग्य बताते हैं और दूसरी ओर काम भी । पढ़नेवाले आश्चर्य में पड़ जाते हैं । जब चारों भाइयों का विवाह हुआ, तो गोस्वामीजी लिखते हैं (१।३२५)—

मुदित अवधपति सकल सुत बधुन्ह समेत निहारि ।

जनु पाए महिपाल मनि क्रियन्ह सहित फल चारि ॥

—सब पुत्रों को बहुओं सहित देखकर अवधनरेश दशरथजी ऐसे आनन्दित हैं, मानो वे राजाओं के शिरोमणि क्रियाओं सहित चारों फल (अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष) पा गये हों । अब यदि चारों भाइयों को चार फल के रूप में देखें, तो श्री राम मोक्ष हैं और श्री भरत धर्म, लक्ष्मण काम है और शत्रुघ्न अर्थ । अब इनमें दो दो की जोड़ी हो गयी—श्री लक्ष्मण और भगवान् राम एक साथ रहते हैं तथा श्री भरत और श्री शत्रुघ्न एक साथ । अर्थात् समाज की व्यवस्था के लिए धर्म और अर्थ की एक जोड़ी बनी तथा मोक्ष और काम की दूसरी । अर्थ को चाहिए कि वह धर्म के पीछे चले । इसीलिए शत्रुघ्न भरत के पीछे चलते हैं । और काम को चाहिए कि वह मोक्ष के पीछे चले, इसीलिए लक्ष्मण श्री राम के पीछे चलते हैं । फिर दूसरी ओर गोस्वामीजी मेघनाद को भी काम की संज्ञा देते हैं, वे 'विनयपत्रिका' में लिखते हैं —**'मोह दशमौलि, तद्भ्रात अहँकार, पाकारिजित काम विश्रामहारी'** (५८।४) । यह कैसा विरोधाभास है कि लक्ष्मणजी भी काम हैं और मेघनाद भी ! क्या तात्पर्य है ? गोस्वामीजी का अभिप्राय यह है कि काम भी दो प्रकार का होता है—एक मोक्षानुगामी और दूसरा मोहानुगामी । लक्ष्मणजी मोक्षानुगामी काम हैं और रावण का बेटा मेघनाद मोहानुगामी काम है । काम के इन दोनों रूपों में संघर्ष होता है । अब मेघनाद को कौन मारेगा ? मेघनाद नल, नील आदि सबको युद्ध में पछाड़ देता है, पर हनुमानजी के ललकारने पर भी उनके सामने नहीं जाता—

बार बार पचार हनुमाना ।

निकट न आव मरमु सो जाना ॥ ६।५०।४

वह समझता है कि इनके सामने मेरा जाना ठीक नहीं होगा ! इसका तात्त्विक अर्थ यह है कि मेघनाद है काम और हनुमानजी हैं ब्रह्मचर्य की मूर्ति । काम हमेशा ब्रह्मचर्य से डरता रहता है । प्रभु चाहते तो वे हनुमानजी से मेघनाद का वध करा दे सकते थे, पर उनका मनोभाव यह था कि यदि ब्रह्मचारी ने काम को जीत लिया, तो उसमें क्या चमत्कार है ! चमत्कार तो तब होगा जब एक गृहस्थ काम को जीत ले । इसीलिए प्रभु लक्ष्मणजी को, मेघनाद को जीतने की भूमिका सौंपते हैं ।

तात्त्विक दृष्टि से देखा जाय, तो काम अद्वैत का प्रेरक है। जब वह आधिभौतिक जगत् में प्रकाशित होता है, तब वासना का रूप धारण करता है और जब आध्यात्मिक जगत् में उसकी अभिव्यक्ति होती है, तब वह ब्रह्म और जीव के मिलन के रूप में प्रकट होता है। चाहे वासना के माध्यम से दो व्यक्ति मिलते हों, चाहें अध्यात्म के माध्यम से ब्रह्म और जीव मिलते हों–दोनों प्रकार के मिलन के पीछे अद्वैत की ही प्रेरणा काम करती है। लक्ष्मणजी के रूप में अभिव्यक्त होने वाला काम अध्यात्म के अद्वैत की प्रेरणा देता है, वह श्री राम के पीछे पीछे चलता है और सीताजी से उनके मिलन का हेतु बनता है।

इस प्रकार चाहे काम की भूमिका हो या क्रोध की, सभी अवस्थाओं में लक्ष्मणजी प्रभु के साथ हैं। लक्ष्मणजी का काम भी अपने लिए नहीं, प्रभु के लिए है; उनका क्रोध भी अपने लिए नहीं, प्रभु के लिए है; न तो उनका अपना कोई अहंकार है, न अपने विषय में कोई मान्यता। उनका सब कुछ प्रभु के लिए है। बाल्या-वस्था का प्रसंग है। जब चारों भाई सरयूजी के किनारे गेंद खेलने को गये, तो भगवान् राम ने दो दल बनाने की बात कही। तुरन्त लक्ष्मणजी प्रभु के पास आकर कहते हैं कि मैं तो आपकी ही ओर से खेलूँगा। प्रभु ने मुसकराकर कहा—ठीक है तुम मेरी ओर से खेलना चाहते हो, तो वही सही। फिर उन्होंने श्री भरत की ओर देखा। भरतजी प्रभु का मनोभाव भाँप लेते हैं, कहते हैं—प्रभो, यदि आपकी आज्ञा हो, तो विरोधी दल का नायक बन जाउँ ! लोगों को आश्चर्य होता है कि लक्ष्मण और भरत कितने अलग अलग विचार के हैं। ध्यान रखिए, लक्ष्मणजी अपना भाव कभी छिपा नहीं पाते, और भरतजी इतना छिपाते हैं कि वह कभी प्रकट नहीं हो पाता। दोनों ही महान् हैं। मैं तो कहूंगा कि श्री भरत का चरित्र समुद्र की तरह है, जिसकी गहराई समझना, कठिन है और श्री लक्ष्मण का चरित्र आकाश की तरह है, जिसमें सब साफ साफ दिखाई देता है सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र सब साफ साफ दिखते हैं. वहाँ किसी के छिपने का प्रश्न ही नहीं है। और जब खेल होता है, तो श्री भरत जीत जाते हैं। (गीतावली, वा० का० ४५।७)—

एक कहत भइ हार रामजूकी ।
एक कहत भइया भरत जये ।।

कोई कहते हैं रामकी हार हुई और कोई कहते है भैया भरत जीते हैं। जब दूसरे दिन फिर से खेल शुरू हुआ, तो भगवान् राम ने लक्ष्मणजी से पूछा–आज किसकी ओर खेलोगे, तो उन्होंने उत्तर दिया–आप की ओर से। लक्ष्मणजी का अभिप्राय यह था कि प्रभो, मैं जीतने के लिए नहीं खेलता, मैं तो आपके साथ रहने के लिए खेलता हूँ।

इसका अर्थ यह है कि जिसे हारने का दुःख होता है, उसे ही जीत की खुशी होती है। पर लक्ष्मण तो इतने अहंकारशून्य हैं कि उनके सामने प्रश्न हार-जीत का नहीं है, वे तो बस प्रभु के साथ रहना चाहते हैं। इसीलिए वे श्री राम के साथ नित्य खेलते हैं और नित्य हारते हैं, क्योंकि भगवान् राम श्री भरत को जिताने के लिए स्वयं हार जाते हैं। पर लक्ष्मणजी को हार की कोई शिकायत-शिकवा नहीं। किन्तु चित्रकूट में जब वे सुनते हैं कि भरत सेना लेकर आ रहे हैं, तब वे उलाहना की दृष्टि से प्रभु की ओर देखते हैं, मानो कहते हैं—प्रभु, मुझे हारने में कोई अपत्ति नहीं थी, पर आपने हार-हारकर भरत का मस्तिष्क खराब कर दिया, वह सोचने लग गया कि वह सचमुच आपको हरा सकता है! यह आपकी ही छूट का फल है कि भरत इतना दुस्साहसी हो गया है! इस प्रकार लक्ष्मणजी भरत के प्रति रोष तो प्रकट करते हैं, पर उनके इस रोष में भी अपना कोई अहं नहीं। वे प्रभु के लिए रोष करते हैं, इसीलिए दूसरे ही क्षण उनका रोष हवा भी हो जाता है। अहंकारी व्यक्ति कोई बात पकड़ ले तो छोड़ नहीं पाता। कुछ क्षण पहले लक्ष्मण कह उठे थे—

जिमि करि निकर दलइ मृगराजू।
लेइ लपेटि लवा जिमि बाजू॥
तैसेहिं भरतहि सेन समेता।
सानुज निदरि निपातउँ खेता॥ २।२२९।६-७

—'जैसे सिंह हाथियों के झुण्ड को कुचल डालता है और बाज जैसे लवे को लपेट में ले लेता है, वैसे ही भरत को सेना समेत और छोटे भाई सहित तिरस्कार करके मैदान में पछाड़ूँगा।' पर कुछ क्षण पश्चात् जब उन्हें भरत के प्रति श्री राम के प्रेम का ज्ञान होता है और जब वे भरत के दीन बचनों को सुनते हैं, तो तुरत माथे को जमीन में नवाकर प्रभु से कह उठते हैं—

कहत सप्रेम नाइ महि माथा।
भरत प्रनाम करत रघुनाथा॥ २।२३९।७

—'प्रभो, भरत प्रणाम कर रहे हैं!' लक्ष्मण इतने अहंकारशून्य हैं कि उनका अपना कोई व्यक्तित्व नहीं। रामायण में अपने को इतना मिटा देनेवाला पात्र और कोई नहीं। अंक की दृष्टि से सोचा जाय, तो श्री राम हैं एक की संख्या। जैसे संख्या का मूल है एक, उसी प्रकार सृष्टि के मूल हैं श्री राम। श्री भरत है नौ की संख्या। अंकों में सबसे बड़ा ९ होता है। इसी प्रकार रामायण में

भरत से बढ़कर और किसी का चरित्र नहीं । और लक्ष्मणजी क्या हैं ? वे एक से लेकर नौ तक कहीं भी नहीं हैं--वे तो हैं शून्य । शून्य ऐसा है, जो अपना तो कोई मूल्य नहीं रखता, पर जिसके साथ जुड़ता है, उसका मूल्य दसगुना बढ़ा देता है । अपने आपको शून्य बनाकर दूसरे के मूल्य को बढ़ा देना कोई साधारण बात नहीं है । ऐसी असाधारण भूमिका लक्ष्मणजी की है कि वे अपने गुणों को दबाकर प्रभु के गुणों को और भी चमकाते हैं । इसे यों समझा जाय --

भगवान् राम के अनन्त गुणों में तीन गुण मुख्य हैं--**"रूप सील बल"** (१।२।१६)-रूप, शील और बल । वैसे तो उनके गुणों का सर्वोत्कृष्ट स्वरूप तीन नगरों में प्रकट हुआ—जनकपुर में रूप, अयोध्या में शील और लंका में बल, पर दूसरी ओर जनकपुर के तीन प्रसंगों में भी उनके ये तीन गुण प्रकट हुए—पुष्पवाटिका में रूप, धनुषयज्ञ में बल और परशुराम के संवाद में शील । और इन तीनों प्रसंगों में लक्ष्मणजी ऐसी भूमिका चुनते हैं, जिससे श्री राम को दोहरा यश मिल जाता है । जनकपुरवासी तुलना करते हुए कहते हैं—दोनों भाई बड़े अच्छे हैं, पर बड़ा कितना गम्भीर है ! अब उन्हें क्या पता कि सारी गम्भीरता बड़े को इसलिए मिल रही है कि छोटे ने कलंक लेने के लिए अपने को प्रस्तुत कर लिया है । अगर वह अपने को वैसे रूप में प्रस्तुत न करे, तो श्री राम की भूमिका अधूरी रह जायगी । इसीलिए लक्ष्मणजी अहंकार रहित और निष्काम होते हुए भी क्रोध को स्वीकार करते हैं, जिससे भविष्य सुधरे। वे ताप प्रदान करते हैं उष्णता देते हैं, जिससे आगे बढ़ने की प्रेरणा मिले । यदि शरीर में ताप न हो, तो व्यक्ति ठण्डा पड़ जाय और उसका उठना-बैठना ही मुश्किल हो जाय । उसी प्रकार यदि समाज में प्रेरणा न हो, शौर्य न हो, गति न हो, तो व्यक्ति कैसे आगे बढ़ेगा ? धनुषयज्ञ में सभी संत्रस्त हैं । लक्ष्मणजी अपने ऊपर क्रोध का कलंक लेकर श्री राम को धनुष तोड़ने के लिए प्रेरित करते हैं, और समाज में व्याप्त संत्रास दूर करते हैं । इसीलिए हमने कहा कि लक्ष्मणजी का क्रोध भविष्यवादी है, जो लोकहित का साधन है । पर जो दूसरे क्रोधी सज्जन आते हैं—परशुरामजी, उनका क्रोध भूतवादी है । वे बार बार पूछते हैं कि धनुष किसने तोड़ा, कैसे टूटा ? उत्तर लक्ष्मणजी देते हैं । एक क्रोधी दूसरे को उत्तर देता है । लक्ष्मणजी परशुराम से कहते हैं—महाराज, यदि आपको धनुष के प्रति इतना प्रेम था और आप चाहते थे कि वह न टूटे, तो आपको तब आना चाहिए था, जब जनकजी ने प्रतिज्ञा की थी कि जो धनुष तोड़ेगा, उसे मैं अपनी कन्या दूँगा । पर उस समय तो आप आये नहीं, और अब जब धनुष टूट गया है, तब आकर क्रोध से काँप रहे हैं ! जरा

सोचिए, "**टूट चाप नहिं जुरिहि रिसाने** (१।२७७।२)—आपके क्रोध करने से अब टूटा धनुष जुड़ तो नहीं जायगा। आप निरर्थक ही क्रोध कर रहे हैं। भूत वादी क्रोध ऐसा ही निरर्थक होता है। लक्ष्मणजी इसीलिए व्यंग्य करते हैं कि धनुष तो जुड़नेवाला है नहीं, आप क्रोध करके अपने को और तोड़ लेंगे। कहते हैं—

टूट चाप नहिं जुरिहि रिसाने ।
बैठिअ होइहिं पाय पिराने ॥१।२७७।२

—बैठ जाइए, अब धनुष तो टूट ही गया है, खड़े खड़े कहीं आपके हाथ पैर भी न टूट जायँ। पैर टूटने से तो आप गतिशून्य हो जाएँगे। शान्त होइए। और यदि आपको लगता है कि धनुष का होना अत्यावश्यक है, तो—

जौं अति प्रिय तौ करिअ उपाई ।
जोरिअ कोउ बड़ गुनी बोलाई ॥

– कोई गुणी कारीगर बुलवा लीजिए और धनुष जुड़वा लीजिए !

परशुरामजी का क्रोध निरर्थक है और लक्ष्मणजी का सार्थक। लक्ष्मणजी का तात्पर्य यह है कि महाराज, आप धनुष को शंकरजी का मानकर कितनी बड़ी भूल कर रहे हैं। जब भगवान् शंकर ने धनुष जनकजी को दे दिया, तब फिर वह उनका कहाँ रहा ? अधिकांश लोगों के साथ यही मुश्किल है, वे देकर भी अपने को दी हुई वस्तु के साथ जोड़े रहते हैं। यह दुर्भाग्य की बात है। देने का अर्थ है ममता का त्याग, उसका विस्तार नहीं। कुछ वस्तुएँ ऐसी होती हैं, जिन्हें आप उठाकर दे देते हैं और कुछ ऐसी, जिन्हें उठाकर नहीं दे सकते। आप किसी को यदि मकान दे दें, तो उसे उठाकर तो नहीं दे सकेंगे, मकान जहाँ का तहाँ ही बना रहेगा। तब फिर आपने किया क्या ? उस मकान के प्रति आपकी जो ममता थी उसे आपने हटा लिया। कल तक उसे आप अपना मानते थे, आज कहने लगे कि वह मेरा नहीं है। तभी तो वह सच्चा दान होगा। और यदि देने के बाद भी यह ध्यान बना रहे कि मकान मेरा है, दान लेनेवाला भी मेरा है और आप यह आशा करते रहें कि दान लेनेवाला आपको हमेशा धन्यवाद देता रहे, तब तो यह ममता का विस्तार हो जायगा। लक्ष्मणजी का संकेत यह है कि महाराज, भगवान् शंकर ने तो धनुष देकर ममता का त्याग किया। ऐसा न होता, तो जनकजी की

प्रतिज्ञा सुनकर उन्हें अधिक क्रोध आना चाहिए था कि भलेमानुस, मैंने क्या तुम्हें धनुष तुड़वाने के लिए दिया है ! पर उन्हें तो क्रोध नहीं आया । उन्होंने धनुष जनकजी को देकर यह चिन्ता नहीं की कि जनक उसका कैसा उपयोग करते हैं । फिर, जनकजी ने भी यह प्रतिज्ञा करके कि जो धनुष तोड़ेगा, उसे अपनी कन्या दूँगा, धनुष के प्रति अपनी ममता के त्याग को ही प्रकट किया । जब शिवजी और राजा जनक धनुष के स्वामी होकर भी उसके प्रति अपनी ममता का त्याग करते हैं, तब आपका धनुष से ममत्व जोड़ना क्या शोभा देता है ? आपको इस धनुष पर इतनी ममता क्यों है ?—"**एहि धनु पर ममता केहि हेतु**" (१।२७०।८) । ऐसा लगता है आपको जो दुःख हो रहा है, वह धनुष टूटने के कारण नहीं है, बल्कि आपकी ममता के कारण है । अतः आप चिकित्सा ममता की कीजिए । ममता छूटने से आपका रोग दूर होगा, धनुष तोड़ने वाले की शोध-खोज से नहीं !

इस प्रकार लक्ष्मणजी यह बताते हैं कि निरर्थक क्रोध की भूमिका क्या होती है, और अपने सार्थक क्रोध के द्वारा वे श्री राम को धनुष तोड़ने की प्रेरणा देते हैं । पहले क्रोध से लक्ष्मणजी की भौंहें टेढ़ी हो गयी थीं और ओठ फड़कने लगे थे, पर जब श्री राम ने धनुष तोड़ दिया और सीताजी ने जयमाला उनके गले में डाल दी, तो सबसे अधिक आनन्द लक्ष्मणजी को ही हुआ । गोस्वामीजी लिखते हैं—

रामहि लखनु बिलोकत कैसें ।
ससिहि चकोर किसोरकु जैसें ॥ १।२६२।७

—'लक्ष्मणजी श्री राम की ओर इस प्रकार देख रहे हैं, जैसे चकोर का बच्चा चन्द्रमा को देख रहा हो ।' गोस्वामीजी यहाँ 'चकोर' नहीं कहते, 'चकोर का बच्चा' कहते हैं । दूसरा कवि उपमा देता तो कहता कि जैसे चकोर चन्द्रमा को देखता है । पर गोस्वामीजी का आशय बड़ा सूक्ष्म हुआ करता है । चकोर भी चन्द्रमा को देखता है, पर उसका राग दो भागों में बँटा रहता है । दिन में वह चकोरी से प्रेम करता है और रात में चन्द्रमा को देखता है । पर चकोर के बच्चे के लिए तो एकमात्र चन्द्रमा ही है, क्योंकि उसके लिए कोई चकोरी नहीं होती । लक्ष्मणजी भी इसी चकोर-किशोर के समान हैं, वे श्री राम को छोड़ और कुछ नहीं जानते । परशुराम से वार्तालाप के प्रसंग में भगवान् राम ने एक बढ़िया बात कही । जब परशुरामजी ने श्री लक्ष्मण पर आक्षेप करते हुए कहा कि यह बालक बड़ा ढीठ है, तो श्री राम बचाव करते हुए बोले—

नाथ करहु बालक पर छोहू ।

सूध दूधमुख करिअ न कोहू ॥ १।२७६।१

—'आप बालक पर कृपा कीजिए । इस सीधे और दुधमुँहे बच्चे पर क्रोध न कीजिए । भगवान् राम की बात सुनकर परशुराम को क्रोध आया—इस पन्द्रह बरस के लड़के को यह दुधमुँहा बच्चा कहता है ! यही इसका साहित्य-ज्ञान है ! और सचमुच श्री राम का लक्ष्मण को दुधमुँहा बच्चा कहना अटपटा ही तो लगता है । वे स्वयं श्री लक्ष्मण से मात्र एक दिन के ही तो बड़े हैं और लक्ष्मण दुधमुँहा बच्चा हो गये ! पर भगवान् राम की परिभाषा आध्यात्मिक है । वैसे बच्चे को हम दुधमुँहा तब तक कहते हैं जब तक वह माँ के स्तनों का दूध छोड़ और किसी वस्तु का सेवन नहीं करता । जब वह अन्य वस्तुओं का भी सेवन करने लगता है, तब वह दूधमुँहा नहीं रह जाता । उसी प्रकार हम संसार के व्यक्ति ईश्वर से भी दूध चाहते हैं तथा उसके साथ ही अन्य वस्तुओं से भी बल प्राप्त करते हैं । पर लक्ष्मण ऐसे बालक हैं, जो ईश्वर के वात्सल्य को छोड़ जीवन में कभी और कुछ नहीं चाहते । वे ईश्वर की शक्ति छोड़ अन्य किसी शक्ति को नमन नहीं करते । उनकी ईश्वर के प्रति अनन्यता शत-प्रतिशत है । वे सच्चे अर्थों में जीवन भर दुधमुँहे बने रहे । दूसरे लोग भले ही अन्य देवताओं के बल में भरोसा करें, पर लक्ष्मणजी के लिए तो मात्र भगवान् राम का ही बल था । जैसे, भरतजी शंकरजी की भी पूजा करते हैं । इसकी भी अपनी सार्थकता है । जब श्री भरत चित्रकूट पहुँचे, तो भगवान् राम ने लक्ष्मणजी की ओर देखा । उनका संकेत था कि लक्ष्मण, बहुत बड़ा शंकर भक्त आ रहा है । इस पर लक्ष्मणजी कह उठते हैं—

जौं सहाय कर संकरु आई ।

तौ मारउँ रन राम दोहाई ॥ २।२२९।८

—'यदि शंकरजी भी आकर उनकी सहायता करें, तो भी मुझे रामजी की सौगन्ध है, मैं उन्हें युद्ध में मार डालूँगा ।' इसी प्रकार जब वे मेघनाद से लड़ने चले, तो उन्हें मालूम था कि मेघनाद भी बड़ा शंकर भक्त है। पर वे कहना नहीं चूकते—

जौं सत संकर करहिं सहाई ।

तदपि हतउँ रघुवीर दोहाई ॥ ६।७४।१४

—'यदि सैकड़ों शंकर भी उसकी सहायता करें, तो भी श्री रघुवीर की दुहाई है, आज मैं उसे मार ही डालूँगा ।' कहने का तात्पर्य यह कि लक्ष्मणजी को केवल श्री राम के बल का ही भरोसा है । उन्हें ईश्वर का वात्सल्य छोड़ और कुछ नहीं चाहिए । वे सही अर्थों में दुधमुँहा हैं । तो, श्री राम के गले में जयमाल है और आनन्द लक्ष्मणजी को हो रहा है । भगवान् राम तो धनुष तोड़ने के बाद भी, सीता से जयमाल पहनने के बाद भी निरपेक्ष दिखायी देते हैं । सुख यदि किसी को होता है, तो लक्ष्मणजी को यही कारण है कि उपस्थित राजाओं में से कई लक्ष्मणजी को धनुष का तोड़ने वाला मान बैठते हैं । श्री राम के मुख को देखकर ऐसा नहीं लगता कि उन्होंने कोई बहुत बड़ा कार्य किया है । धनुष तोड़ने के पहले वे जैसा दिख रहे थे, वैसा ही धनुष तोड़ने के बाद भी दिखते हैं । उनकी आकृति में विजय-प्राप्ति का कोई लक्षण नहीं दिखायी देता । यदि कोई पहलवान कुश्ती जीत लेता है, तो उसका चेहरा ही उसकी विजय की घोषणा करता है । पर भगवान् राम तो जैसे के तैसे हैं । हाँ, लक्ष्मणजी के चेहरे पर हर्षोल्लास की आभा है और इसलिए कुछ राजागण उन्हें धनुष का भंजनकर्त्ता मान चिल्ला उठते हैं—

लेहु छड़ाइ सीय कह कोऊ ।

धरि बाँधहु नृप बालक दोऊ ॥ १।२६५।३

—'सीता को छीन लो और दोनों राजकुमारों को पकड़कर बाँध लो ।' यह सुनकर भी भगवान् राम वैसे ही शान्त हैं, जैसे पहले थे । क्रोध तो लक्ष्मणजी करते हैं—

अरुन नयन भृकुटी कुटिल ।

चितवत नृपन्ह संकोप ॥ १।२६७

—उनके नेत्र लाल हो जाते हैं, भौंहें टेढ़ी हो जाती हैं और वे क्रोध से राजाओं की ओर देखने लगते हैं । वास्तव में क्रोध तो राम को करना चाहिए था, पर क्रोध करने की भूमिका लक्ष्मण निभाते हैं, मानो वे श्री राम से कहते हैं कि आप जयमाल डलवाने की अपनी भूमिका सम्पन्न कीजिए और मुझे क्रोध करने की अपनी भूमिका करने दीजिए । यदि वे चाहते तो धनुष पर बाण चढ़ाकर सब राजाओं के सिर काट डालते । प्रभु ने तो सुग्रीवजी से कहा ही था—

जग महुं सखा निसाचर जेते ।

लछिमनु हनइ निमिष महुं तेते ॥ ५।४३।७

—'हे सखे, जगत् में जितने भी राक्षस हैं, लक्ष्मण क्षणभर में उन सबको मार सकते हैं।' पर लक्ष्मणजी ने धनुषयज्ञ में धनुष नहीं चढ़ाया, केवल आँखें ही चढ़ायीं। वे समय की गुरुता को समझते हैं। वे सोचते हैं कि यदि मैं इस समय इन राजाओं का सिर काटूँ, तब तो प्रभु का व्रत ही नष्ट हो जायगा। प्रभु का विवाह तो मिलानेवाला है, मिटाने वाला नहीं। संसार में विवाह तो बहुत से लोग करते हैं, पर उनका विवाह केवल अपने लिए होता है, उससे केवल पति-पत्नी का एक जोड़ा ही आपस में मिलित होता है। लेकिन भगवान राम का विवाह ऐसा है, जिसमें पहले दूसरे बिछुड़े हुए जोड़े मिलते हैं, तब उनका जानकीजी से मिलन होता है। जनकपुर आने से पहले वे अहल्या का उद्धार करते हैं, अहल्या और गौतम को मिलाते हैं और तब उसके बाद स्वयं सीताजी से मिलते हैं। इसीलिए लक्ष्मणजी सोचते हैं कि यदि हजारों स्त्रियों को विधवा बनाकर प्रभु का विवाह हुआ, तब तो प्रभु का व्रत ही नष्ट हो जाएगा। इसलिए धनुष न चढ़ाकर वे नेत्र ही चढ़ाते हैं। और इतने में परशुराम आ जाते हैं। उन्हें सभी राजा साष्टांग प्रणाम करने लगते हैं। लक्ष्मणजी ने सोचा कि चलो काम बन गया। अब तो गणित सीधा है। परशुराम से सभी डरते हैं, इसलिए यदि उन्हें यहाँ से हराकर भेज दिया जाय तो सारा झगड़ा समाप्त हो जाएगा परशुराम को पराजित करना माने हजारों व्यक्तियों के सिर की रक्षा करना। ऐसा विचार कर लक्ष्मणजी अपनी भूमिका निश्चित कर लेते हैं। वे क्रोध करने की भूमिका स्वीकार कर लेते हैं, क्योंकि वे देखते हैं कि यदि वे क्रोध न करें, तो हजारों राजाओं का सिर काटना पड़ेगा। इसलिए वे ऐसा भाषण देते हैं कि परशुराम क्रोध से काँपने लगते हैं। भगवान् राम की भौंहें टेढ़ी हो जाती हैं - "**नयन तरेरे राम (१।२७८)**। यह देख लक्ष्मणजी खूब हँसे। बोले—प्रभु, मैं यही तो चाहता था कि आपकी भौंहे टेढ़ी हों, लोग यह समझे तो कि आपको क्रोध करना भी आता है! इसकी भी आवश्यकता है।

इस प्रकार लक्ष्मणजी ऐसी भूमिका प्रस्तुत करते हैं कि अन्त में परशुरामजी भगवान् राम के चरणों में स्तुति करते हुए नमन करते हैं—

जाना राम प्रभाउ तब पुलक प्रफुल्लित गात। १।२८४

—और वे प्रभु को प्रणाम कर चले जाते हैं। लोग भगवान् राम पर फूलों की वर्षा करते हैं। परशुराम तो चले गये, पर आलोचना के शूल लक्ष्मणजी पर बरस रहे थे—

थर थर काँपहिं पुर नर नारी ।

छोट कुमार खोट बड़ भारी ॥ १।२७।५

जो स्वयं शूल लेकर भगवान् पर फूल की वर्षा कराता है, उससे बढ़कर महान् कौन होगा ?



सप्तम व्याख्यान

पिछले छह व्याख्यानों में हमने लक्ष्मणजी के चरित्र की भूमिका पर विचार करते हुए देखा कि वे किस प्रकार श्री राम के चरित्र की पूर्णता साधित करते है। वे प्रभु के यश के विस्तार के लिए अपने ऊपर कंलक लेते हैं, दूसरों की लांछना स्वीकार करते हैं।

एक महिला ने मुझसे कहा कि रामायण में उर्मिलाजी के चरित्र की उपेक्षा की गयी है। उन्होंने स्वयं उर्मिलाजी के चरित्र पर सहानुभूतिपूर्वक विचार किया है। पर मैं समझता हूँ उर्मिलाजी सहानुभूति की नहीं, श्रद्धा की विषय हैं। यदि कोई स्थिति किसी पर बलात् आरोपित कर दी जाय, तब तो वह सहानुभूति का पात्र हो सकता है, पर यदि किसी ने स्वेच्छा से किसी विशेष जीवन का वरण किया हो, ऐसे मार्ग पर चल रहा हो जो बलिदान का पथ है, तो वह सहानुभूति का नहीं, श्रद्धा का पात्र है। अतः जब हम लक्ष्मण, उर्मिला, सुमित्रा या पूरे परिवार पर विचार करते हैं, तब उन साधारण मापदण्डों को हमें नहीं अपनाना चाहिए, जिनको हम समाज के सामान्य जीवन पर विचार करने के लिए अपनाते हैं। मान लीजिए एक सैनिक युद्धक्षेत्र में लड़ने गया। तो, क्या यह नहीं कहा जा सकता कि वह अपनी पत्नी के प्रति कर्तव्य का कहाँ पालन कर रहा है? तात्पर्य यह है कि बलिदान का पथ ऐसा नहीं, जहाँ व्यक्ति केवल व्यक्तिगत सम्बन्धों को ही महत्व देकर रुक जाय।

एक भवन निर्माता शिल्पी से किसी ने शिकायत की—तुम्हें तो प्रत्येक ईंट के साथ न्याय करना चाहिए। तुमने जिस बेचारी ईंट को जमीन में गाड़ दिया, उसके साथ कितना अन्याय किया? ऊपर की जो ईंटें हैं, वे तो सज्जा प्राप्त कर रही हैं और नीचे की ईंट दिखायी ही नहीं देती। उसका त्याग, उसका बलिदान कितना महान् है: अपने ऊपर सारा भार लादकर भी वह आँखों से ओझल रहती है। तो, ऐसी शिकायत का वह शिल्पी क्या उत्तर देगा? जा नींव की ईंट है, वह तो नीचे ही रहेगी। ऐसा कोई उपाय नहीं, जिससे नींव की ईंट ऊपर रहे और मकान खड़ा हो जाय। और सच में देखा जाय तो गौरव तो आप नींव की ईंट को ही

देते हैं, जो नीचे गड़ी हुई है। उर्मिलाजी या लक्ष्मणजी का गौरव इस बात में है कि रामराज्य के रूप में जिस महान् आदर्श का निर्माण हो रहा है, उसके लिए वे अपने आपको मिटाकर नींव की ईंट बन जाते हैं। इसीलिए गोस्वामीजी ने श्री लक्ष्मण के लिए बड़ा सार्थक शब्द चुना – **'सकल जगत आधार' (१/१९७)** । आधार तो नीचे ही होता है । हमारी मान्यता भी है कि पृथ्वी का आधार है शेष । पृथ्वी तो हमें दिखाई देती है, पर शेष नहीं दिखायी देता । जब हम लक्ष्मणजी को शेष का अवतार कहते हैं, तब फिर वे दिखेंगे कैसे ? क्या आधार भी कभी दिखायी देता है ? इस बात को न समझने के कारण ही कभी कभी लोग लक्ष्मणजी के प्रति न्याय नहीं कर पाते । यह बार बार दुहराया जाता है कि भरतजी का चरित्र महान् है । इसमें सन्देह नहीं कि श्री भरत महान् हैं, पर श्री लक्ष्मण भी उतने ही महान् हैं । कुछ लोग लक्ष्मणजी को न समझने के कारण उनकी खुली आलोचना कर बैठते हैं कि उनमें शील का अभाव है, जल्दी से आवेश में आ जाते हैं, आदि । कुछ दूसरे लोग लक्ष्मणजी पर मानो दया करके उनके आवेश आदि की सफाई देने लगते हैं कि हाँ, उनमें आवेश-सा आया तो दिखता है, पर वह इस कारण से है; उनमें शील जो नहीं दिखायी देता, वह इस कारण से है । पर हम कहें, लक्ष्मणजी कोई दया के पात्र नहीं हैं। वस्तुतः उन्हें इसलिए ठीक समझा नहीं गया कि उनके चरित्र का उतना विस्तार नहीं हो पाया । और उर्मिलाजी का चरित्र तो उनकी भी अपेक्षा बहुत कम सामने आया । इसका कारण मात्र यही है कि श्री लक्ष्मण भगवान् राम के साथ सम्बद्ध हैं, वे भगवान् की कीर्ति-पताका के दण्ड हैं । नमन तो ध्वज को किया जाता है, डण्डे को कोई प्रणाम् नहीं करता । पर यदि डण्डे को कोई प्रणाम् न करता हो, आधार को कोई देख न पाता हो, तो इसका तात्पर्य यह तो नहीं कि आधार किसी प्रकार से न्यून है ।

एक अनोखी बात आती है । गुरु वसिष्ठ ने जब इन चारों भाइयों का नामकरण किया, तो क्रम थोड़ा बदल दिया । अवस्था के अनुसार पहले श्री राम का नामकरण होना चाहिए था, फिर श्री भरत का, फिर श्री लक्ष्मण और अन्त में शत्रुघ्नजी का । गुरु वसिष्ठ ने श्री भरत तक तो क्रम का पालन किया, पर उसके बाद लक्ष्मणजी के स्थान पर श्री शत्रुघ्न का नाम रख दिया और अन्त में श्री लक्ष्मण का नाम रखा । प्रश्न उठता है कि क्या वसिष्ठजी इस अवस्थाक्रम से अनभिज्ञ हैं ? नहीं, ऐसी बात नहीं । वे लक्ष्मणजी का नामकरण सबसे अन्त में करने का कारण बता देते हैं—

लच्छन धाम राम प्रिय सकल जगत आधार । १।१९७

—लक्ष्मण तो सबके आधार हैं, और आधार का सबसे नीचे स्थापित होना ही सुसंगत है, भले ही अवस्था-क्रम की दृष्टि से विचार करने पर यह असंगत लगे । इस प्रकार गुरु वसिष्ठ इस नामकरण में ही लक्ष्मणजी की भूमिका का संकेत कर देते हैं । फिर, इन चारों भाइयों के नामकरण में ही इस क्रम का पालन नहीं किया गया, अपितु जब जनकपुरी में चारों राजकुमारियों का स्मरण किया गया, तो वहाँ भी उर्मिला को श्रुतिकीर्ति के बाद सबसे अन्त में ही रखा गया, यद्यपि सबसे छोटी तो श्रुतिकीर्ति हैं । महाराज जनक तीनों कन्याओं को लाने का आदेश देते हैं—

मांडवी श्रुतकीरति उरमिला कुअँरि लईं हँकारि कै। १।३२४।छं:२

तो, यहाँ अवधपुरी में नामकरण में लक्ष्मणजी सबसे अन्त में हैं और वहाँ जनकपुरी में राजकुमारियों के नाम-स्मरण में उर्मिलाजी सबसे अन्त में । एक बात और । जब गोस्वामीजी उर्मिला का परिचय देते हैं, तो परम्परा से थोड़ा हटकर वैसा करते हैं । किसी भी स्त्री के परिचय के तीन मुख्य केन्द्र होते हैं । या तो कहेंगे कि अमुक की पुत्री है; या विवाह के बाद कहेंगे कि अमुक की पत्नी हैं, या फिर सन्तान की उत्पत्ति के बाद कहेंगे कि अमुक की माता है । जब श्री सीताजी पार्वतीजी की वन्दना करती हैं, तब इन्हीं तीन सम्बन्धों का स्मरण करती हैं **"जय जय गिरिवर राज किसोरी'** (१।२३४।५) — आप गिरिराज हिमालय की पुत्री हैं, **'जय महेस मुख चन्द चकोरी'** (१।२३४।५)—आप शंकरजी के मुखचन्द्र की चकोरी हैं अर्थात् आप शंकरजी की प्रिया हैं, **'जय गजबदन षडानन माता (१।२३४।६)** —आप गणेश और स्वामी कार्तिकेय की माता हैं । पर जब गोस्वामीजी ने उर्मिलाजी का परिचय दिया, तो परम्परा से हट गये । विवाह के मण्डप में वे तीनों राजकुमारियों का परिचय कराते हैं । माण्डवी और श्रुतिकीर्ति का परिचय देते हुए तो क्रम का पालन करते हैं, यह बताते हैं कि वे किनकी पुत्री हैं, पर उर्मिला का परिचय देते हुए पिता के नाम से उनका परिचय नहीं देते । माण्डवी के लिए कहते हैं ।

कुसकेतु कन्या प्रथम जो गुन सील सुख सोभामई ।
सब रीति प्रीति समेत करि सो ब्याहि नृप भरतहि दई ॥ १।३२४।छं.,२

—जो कुशकेतु (कुशध्वज) की प्रथम कन्या है, वह भरतजी को ब्याही गयी। श्रुतिकीर्ति के लिए कहते हैं कि कुशकेतु की इस छोटी कन्या का ब्याह शत्रुघ्नजी से किया गया—

जेहि नामु श्रुतकी रति सुलोचनि सुमुखि सब गुन आगरी।
सो दई रिपुसूदनहि भूपति रुप सील उजागरी।। १।३२४।छं. ३

माण्डवी और श्रुतिकीर्ति कुशकेतु को पुत्रियाँ हैं। कुशकेतु महाराज जनक के भाई हैं और कुशध्वज के नाम से भी परिचित हैं। विवाह के प्रसंग में तो पिता का महत्व और भी अधिक है, क्योंकि वह कन्यादान करता है। तो, माण्डवी और श्रुतिकीर्ति के परिचय में उनके पिता का स्मरण बिल्कुल ठीक ही किया गया, पर उर्मिला के परिचय में गोस्वामजी कन्या के पिता का स्मरण नहीं करते। उर्मिला स्वयं महाराज जनक की पुत्री हैं, पर उनके परिचय में कहते हैं—**'जानकी लघु भागनि'**—ये जानकीजी को छोटी बहन हैं। (१।३२४छ. ३) यह अनोखी बात है। यदि सामने दो बहनें मात्र होतीं, तो छोटी बहन का परिचय कराते हुए, कहा जा सकता था कि ये इनकी छोटी बहन हैं। पर जहाँ पर कन्यादान का अवसर हो और महाराज जनक जैसा प्रसिद्ध पिता हो, वहाँ पर यह कहकर परिचय देना कि ये जानकीजी की छोटी बहन हैं, बड़ा खटकता है। गोस्वामीजी ऐसी खटकने वाली बात क्यों करते हैं? क्या वे नहीं जानते कि यह बात परम्परा से हटकर है? वे जानते हैं, पर वे केवल कविहृदय ही तो नहीं हैं, वे भक्तहृदय भी हैं। वे यह बताना चाहते हैं कि वर और दुलहिन दोनों सर्वथा एक दूसरे के अनुरूप हैं—**'अनुरुप बर दुलहिनि'** (१।३२४।छ. ४)। वे माण्डवी के गुणों का वर्णन करते हुए कहते हैं—

—कुसकेतु कन्या प्रथम जो गुन सील सुख सोभामयी—जो गुण, शील, सुख और शोभा की रूप ही हैं। ये भरतजी, के अनुरूप हैं, क्योंकि श्री भरत भी गुण और शील की मूर्ति हैं—

निरवधि गुन निरुपम पुरुषु भरतु भरत सम जानि। २।२८८

उसी प्रकार यदि शत्रुघ्नजी 'वेदप्रकाशा' हैं—'नाम सत्रुहन बेद प्रकासा' (१।१९६।८)—तो उनकी दुलहिन भी श्रुतिकीर्ति हैं। अब उर्मिलाजी लक्ष्मणजी की प्रिया कैसे बनेंगी? गोस्वामीजी कहते हैं कि उसके लिए और कोई गुण उर्मिलाजी में नहीं चाहिए, बस उन्हें 'जानकी लघु भगिनी' भर होना है। जब तक राम-सीता से नाता न हो, तब तक भले ही लाख गुण हों, पर लक्ष्मणजी के लिए कोई आकर्षण नहीं हो सकता। इसीलिए गोस्वामीजी ने उर्मिलाजी के लिए दो ही विशेषण कहे—या तो वे 'जानकी लघु भगिनी' हैं या 'सकल सुन्दरि सिरोमनि'—

जानकी लघु भगिनी सकल सुन्दरि सिरोमनि जानि कै ।
सोतनय दीन्ही ब्याहि लखनहि सकल विधि सनमानि कै । १।३२४।छ.३

'शिरोमणि' कहकर यह ध्वनित किया कि शेष के लिए शिरोमणि ही सर्वश्रेष्ठ हो सकता है, क्योंकि सर्प के मस्तक में मणि होता है । इस प्रकार उर्मिला का शिरोमणित्व साहित्यिक दृष्टि से सार्थक है और उनका सीता की लघुभगिनी होना सीता के प्रति उनकी निष्ठा को प्रकट करता है ।

श्री भरत और श्री लक्ष्मण के लिए गोस्वामीजी दो अलग अलग उपमा देते हैं । भरत क्या हैं ?—

भरतु हंस रबिबंस तड़ागा ।
जनमि कीन्ह गुन दोष बिभागा ।।
गहि गुन पय तजि अव गुन बारी ।
निज जस जगत कीन्हि उजिआरी ।। २।२३१।६-७

—'भरत ने सूर्यवंश रूपी तालाब में हंसरूप जन्म लेकर गुण और दोष का विभाग कर दिया । गुणरूपी दूध को ग्रहण कर अवगुणरूपी जल को त्यागकर भरत ने अपने यश से जगत् में उजियारा कर दिया है' तो, यहाँ पर गोस्वामीजी श्री भरत की तुलना हंस से करते हैं । पर लक्ष्मणजी हंस नहीं हैं । 'विनयपत्रिका' (३७) में लक्ष्मणजी की वन्दना करते हुए गोस्वामीजी कहते हैं—"भावते भरत के । वहाँ पर सबके नातों का वर्णन करते हैं । यह ध्यान रखने योग्य बात है कि गोस्वामीजी ने 'रामचरितमानस' में सबसे अधिक वन्दना लक्ष्मणजी की की है । वैसे ही 'विनयपत्रिका' में भी उन्होंने लक्ष्मणजी की वन्दना में दो पद लिखे हैं, जबकि भरतजी की वन्दना में एक पद । तो, लक्ष्मणजी की स्तुति करते हुए वे 'विनयपत्रिका' में लिखते हैं—

लाल लाड़िले लखन, हित हौ जन के ।
सुमिरे संकटहारी, सकल सुमंगलकारी,
पालक कृपालु अपने पन के ।।१।।
धरनी-धरनहार भंजन-भुवनभार,
अवतार साहसी सहसफन के ।
सत्यसंध, सत्यब्रत, परम धरमरत,
निरमल करम बचन अरु मन के ।।२।।

रूप के निधान, धनु-बान पानि, तून कटि,
महाबीर बिदित, जितैया बड़े रन के ।
सेवक-सुख-दायक, सबल, सब लायक,
गायक जानकीनाथ गुनगन के ॥३॥
भावते भरत के, सुमित्रा-सीता के दुलारे,
चातक चतुर राम स्याम घन के ।
बल्लभ उरमिला के, सुलभ सनेहबस,

'हे प्यारे लखनलालजी, आप भक्तों का हित करने वाले हैं । स्मरण करते ही आप संकट हर लेते हैं । सब प्रकार के सुन्दर कल्याण करनेवाले, अपने प्रण को पालने वाले और दीनों पर कृपा करने वाले हैं ॥१॥ पृथ्वी को धारण करनेवाले, संसार का भार दूर करने वाले, बड़े साहसी और शेष-नाग के अवतार हैं । अपने प्रण और व्रत को सत्य करने वाले, धर्म के परम प्रेमी तथा निर्मल मन, वचन और कर्मवाले हैं ॥२॥ आप सुन्दरता के भण्डार हैं हाथों में धनुष-बाण धारण किये और कमर में तरकस कसे हुए हैं, आप विश्वविख्यात महान्वीर हैं! और बड़े बड़े संग्राम में विजय प्राप्त करने वाले हैं । आप सेवकों को सुख देने वाले, महाबली; सब प्रकार से योग्य और जानकीनाथ श्रीराम की गुणावली के गाने वाले हैं ॥३॥ आप भरतजी के प्यारे, सुमित्रा और सीताजी के दुलारे तथा राम-रूपी श्याम मेघ के चतुर चातक हैं, उर्मिलाजी के प्राणवल्लभ और प्रेम से सहज ही में मिलने वाले हैं ।'

किसी ने गोस्वामीजी से पूछा—सबके नाते तो आपने लक्ष्मणजी से गिना दिये, तो क्या आपका भी उनसे कोई नाता है ? उत्तर में गोस्वामीजी बड़ी ही सुन्दर बात कहते हैं–

धनी धन तुलसी से निरधन के ।४॥

—हे लक्ष्मणजी, आप तुलसीदास जैसे निर्धन के धनी और धन दोनों हैं।

किसी ने मुझसे कहा कि गोस्वामीजी ने 'मानस' में श्री भरत के चरित्र का तो बड़ा विस्तार किया है, पर वे लक्ष्मण जी के विषय में बड़े कृपण हैं । मैंने उत्तर में कहा कि भई, लक्ष्मणजी उनके धन हैं न । धन को तो छिपाया ही जाता है । तो, यदि गोस्वामीजी ने लक्ष्मण को छिपाया, तो किसी न्यूनता के कारण नहीं, अपितु उनकी विशेषता के कारण। और उनकी

यह विशेषता वे 'चातक चतुर राम स्याम घन के' कहकर प्रकट करते हैं। गोस्वामीजी का यह जो चतुर चातक है, वह आपको संसार के वृक्ष में नहीं मिलेगा, वह तो 'दोहा वली रामायण' की डाली पर मिलेगा। वास्तव में वह तो स्वयं गोस्वामीजी का अन्तः कारण ही है, जो चातक के रूप में अभिव्यक्त हो रहा है। गोस्वामीजी चातक के स्वाति-नक्षत्र के जल के प्रति प्रेम की बड़ी ही सुन्दर चर्चा करते हैं। चातक गर्मी में जा रहा था। उसे गर्मी के कारण जोरों की प्यास लगी। पर वह जल तो पी नहीं सकता था। उसने सोचा कि छाया में थोड़ा विश्राम कर लें। उसने देखा कि आम का एक बाग है, छाया बड़ी घनी है। चातक ने विचार किया कि जरा चलकर इस छाया में अपनी थकान थोड़ी मिटालें। पर बाग में जाते जाते उसके मन में अचानक एक प्रश्न आ गया और उसने बाग के रखवाले को पुकारा, उससे कहा कि भाई, जरा बाहर तो आना। रखवाले ने चातक से कहा–तुम भीतर क्यों नहीं आ जाते ? चातक बोला—तुम मेरे प्रश्न का उत्तर दे दो, तब में भीतर आऊँगा। रखवाला बाग से बाहर निकल आया, पूछा—क्या प्रश्न है तुम्हारा ? चातक ने पूछा—ये जो बाग के वृक्ष हैं, ये किस जल से सींचे गये हैं ? रखवाला बड़ा बिगड़ा, कहा—बाग को सींचने में कोई नियम होता है क्या ? चाहे वर्षा का जल हो, चाहे कुएँ का, हमें जो जल मिलता है, उससे सींच देते हैं। गोस्वामीजी 'दोहावली' में लिखते हैं—

उष्न काल अरु देह खिन मग पंथी तन ऊख।

चातक बतियाँ ना रुचीं अन जल सींचें रूख ॥३१०

अन जल सींचे रूख की छाया तें बरु घाम।

तुलसी चातक बहुत हैं यह प्रवीन को काम ॥३११

—चातक को लगा कि ये वृक्ष स्वाति-नक्षत्र के जल से नहीं सींचे गये हैं। उसने निर्णय लिया कि यदि ये वृक्ष स्वाति-नक्षत्र के जल से सींचे गये होते, तब तो मैं उनकी छाया में विश्राम कर लेता, पर अब तो ऐसी छाया में बैठने की अपेक्षा गर्मी में मर जाना ही श्रेयस्कर होगा ! तुलसी कहते हैं कि अपने को चातक कहने वाले तो बहुत हैं, पर ऐसी निष्ठावाला चातक जो अपनी उस निष्ठा के लिए जीवन के बड़े बड़े सुख का त्याग कर दे, कोई बिरला ही है। वही है चतुर चातक। और गोस्वामीजी के ये चतुर चातक हैं लक्ष्मणजी। गोस्वामीजी समझ गये कि स्वाति-नक्षत्र के प्रेमी की प्रिया को जब तक 'जानकी लघु भगनि' के सम्बन्ध से सम्बोधित नहीं करेंगे, यह चातक शायद विवाह करना भी स्वीकार नहीं करेगा। जब वह अन्य जल से सींचे गये

वृक्ष की छाँह में बैठने को भी प्रस्तुत नहीं है, तब जिसका श्री सीता और श्री राम से सम्बन्ध न हो, वह श्री लक्ष्मण को कैसे प्रिय हो सकता है ? कहने का तात्पर्य यह है कि लक्ष्मणजो श्री राम के प्रति जितने समर्पित हैं, उतनी ही उर्मिलाजी जानकीजी के प्रति समर्पिता है। श्री लक्ष्मण और उर्मिलाजी में आत्म-बलिदान की पराकाष्ठा है। बल्कि यह कहें कि यह पूरा का पूरा परिवार ही बड़ा अनोखा है। यदि हम विचार करें, तो देखेंगे कि सुमित्रा, उर्मिला श्रुतिकीर्ति, लक्ष्मण, शत्रुघ्न ये सब के सब इतने अनोखे त्यागी हैं, अपने आपको मिटाने की भावना से इतने भरे हुए हैं कि प्रत्येक की यही चेष्टा रहती है कि स्वयं सामने न आए। यह बात अलग है कि किन्हीं प्रसंगों में श्री लक्ष्मण सामने आ गये हों और कहीं पर सुमित्रा अम्बा को आगे आना पड़ा हो। पर स्वभावतः उनका यही प्रयत्न रहता है कि सामने न आना पड़े। कितना आश्चर्य होता है कि लक्ष्मणजी अपनी पत्नी उर्मिला को छोड़कर चौदह वर्ष के लिए बन चले जाते हैं। और उससे भी अधिक आश्चर्य तब होता है, जब उर्मिला अपने पति के वन जाने के अवसर पर उन्हें प्रणाम् करने नहीं आतीं। लक्ष्मणजी भी वन जाते समय उर्मिला से मिलकर नहीं जाते। यह सब जानकर आश्चर्य ही होता है। इसका क्या कारण हो सकता है ? गोस्वामीजी कहते हैं कि सुमित्रा अम्बा का परिवार उपासना का परिवार हैं—

ज्ञानशक्तिश्च कौसल्या सुमित्रोपासनात्मिका ।
क्रिया शक्तिश्च कैकेयी वेदो दशरथो नृपः ॥

—कौसल्या अम्बा मानो मूर्तिमती ज्ञानशक्ति हैं, कैकेयी अम्बा मूर्तिमती क्रिया शक्ति हैं, सुमित्रा अम्बा मूर्तिमती उपासनाशक्ति हैं तथा महाराज दशरथ मूर्तिमान् वेद हैं। यदि आप तीनों माताओं की भूमिका पर विचार करें, तो देखेंगे कि ज्ञान, कर्म ओर उपासना की जो विशेषता होती है, वह इन तीनों में विशेष रूप से दिखायी देती है। ज्ञान की विशेषता है समत्व, वह आपको कौसल्याजी में मिलेगा। क्रिया की विशेषता है रजोगुण और उत्साह, वह आपको कैकेयी जी में मिलेगा। उपासना की विशेषता है समर्पण, वह आपको सुमित्रा अम्बा के चरित्र में मिलेगा। तीनों का अपना अलग अलग व्यक्तित्व, अलग अलग चरित्र है। कौसल्या अम्बा के लिए गोस्वामीजी कहते हैं कि उन्हें श्री राम और श्री भरत में कोई भेद ही नहीं दिखायी देता था—

राम भरतु दोऊ सुत सम जानी । २।५४।६

यह ज्ञान की पराकाष्ठा है। कैकेयी अम्बा बड़ी उदार है, बहुत ही उत्साही हैं और जैसा कि क्रियापरायण व्यक्ति हुआ करते हैं, वे इस सिद्धान्त का पालन

करती हैं कि "मुझसे अच्छा व्यवहार करो, तो हम भी अच्छा व्यवहार करेंगे और तुम यदि एक बुरा करो, तो हम दो बुरा करेंगे।" वे ऐसा सोचती हैं कि यदि राम मुझे अपनी माँ से अधिक आदर देता है, तो मैं भी उसे अपने बेटे से अधिक प्यार दूँगी और यदि नहीं देता, तो—

जस कौसिलाँ मोर भल ताका।

तस फलु उन्हहि देउँ करि साका॥ २।३२।८

—कौसल्या ने मेरा जैसा भला चाहा है, मैं भी साका करके (याद रखने योग्य) उन्हें वैसा ही फल दूँगी।' यह क्रिया की वाणी है। उपासना की भाषा इससे सर्वथा भिन्न है। सुमित्रा अम्बा में उपासना का यह रूप प्रारम्भ से ही दिखता है, जब यज्ञपुरुष द्वारा प्रदत्त पायस का तीनों रानियों में वितरण किया गया।

आप 'रामचरितमानस' में पढ़ते हैं कि जब महाराज दशरथ ने पुत्रकामेष्टि यज्ञ कराया, तब स्वर्णपात्र में चरु लेकर अग्निदेव प्रकट हुए। उन्होंने चरु का पात्र महाराज दशरथ को देते हुए कहा—इसे ले जाकर अपनी रानियों में बाँट दो। जब पूछा गया कि किस आधार पर बाँटा जाय, तो उत्तर मिला—

जथा जोग जेहि भाग बनाई (१।१८८।८)

—जिसको जैसा उचित हो, वैसा भाग बनाकर बाँट दो। अब यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि अग्निदेव को ऐसा कहने की क्या आवश्यकता थी कि खीर को, हवि को बाँटकर जो जिस योग्य हो उसे वैसा दे दो? तो, इसके पीछे एक कथा है।

अन्यत्र संकेत प्राप्त होता है कि महाराज दशरथ के जब कोई सन्तान नहीं हुई और कैकेयीजी से उनके विवाह का प्रसंग आया तो, कैकेयी के पिता महाराज कैकय ने महाराज दशरथ के समक्ष एक शर्त रखते हुए कहा—मैं अपनी कन्या का आपसे विवाह तभी करूँगा, जब आप प्रतिज्ञा करें कि मेरी कन्या से उत्पन्न पुत्र ही राज्य का उत्तराधिकारी होगा। महाराज कैकय क्रिया के पिता हैं, इसलिए बिना लेन-देन के कोई बात स्वीकार नहीं करते। क्रिया जब तक परिणाम को नहीं देख लेती, तब तक वह क्रियमाण नहीं होना चाहती। कैकय हैं रजोगुण। रजोगुण की कन्या है क्रिया। रजोगुण से क्रिया का जन्म होता है! कौसल्या और सुमित्रा के विवाह में कोई शर्त नहीं है, जबकि कैकेयी के विवाह में है। तो, जब महाराज दशरथ के सामने यह शर्त रखी गयी, उन्होंने सोचा कि इसमें भला क्या कठिनाई हो सकती है, अन्य रानियों से तो कोई सन्तान है नहीं, इसलिए कैकेयी से जो पुत्र प्राप्त होगा, राज्य उसे दे देंगे। वे यह तो नहीं जानते थे कि आगे क्या क्या होने वाला है। इसलिए अग्निदेव जब

प्रकट होकर उन्हें चरु देकर कहते हैं कि इसे रानियों में यथोचित रूप से बाँट दो, तो यह महाराज दशरथ के समक्ष एक समस्या बन गयी। वे कैकेयी से उनके पुत्र को राज्य देने के लिए वचनबद्ध हैं, ऐसी दशा में उनके लिए उचित तो यही होता कि वे चरु मात्र कैकेयी को ही देते। उससे राज्य के उत्तराधिकारी के लिए संघर्ष की कोई सम्भावना उत्पन्न नहीं होती। लेकिन अग्निदेव कहते हैं कि चरु का वितरण करना है। यज्ञ का तात्पर्य भी वितरण ही है—अकेले मत ग्रहण करो, बाँटकर ग्रहण करो। तो, ऐसे में राजा दशरथ के लिए एक सरल उपाय यह था कि तीनों रानियों को चरु का बराबर-बराबर भाग दे दिया जाता। पर वहाँ भी अग्निदेव ने एक सूत्र रख दिया—'जो जिस योग्य हो, उसे उतना भाग देना है।' यह बड़ा कठिन कार्य था, पर महाराज दशरथ ने यह वितरण का कार्य न्यायपूर्वक किया। यदि वे ममता में पड़कर वितरण करते, तो सम्भव था कि वे कैकेयीजी को पूरा का पूरा चरु दे देते, क्योंकि कैकेयीजी ने अपने सौन्दर्य से उन्हें आसक्त बना रखा था, फिर कैकेयीजी में स्वभाव की तेजस्विता भी थी। किन्तु महाराज दशरथ ने पूरे न्याय के साथ बाँटने का काम किया। उन्होंने चरु का आधा भाग कौसल्याजी को, ज्ञान को दिया—**'अर्ध भाग कौसल्यहि दीन्हा'** (१।१८९।२) और आधे बचे हुए भाग के फिर दो भाग किये। उसका एक भाग उन्होंने कैकेयीजी को दिया। अब सीधा क्रम यही होता कि शेष दूसरे भाग को वे सुमित्राजी को दे देते। पर गोस्वामीजी कहते हैं कि महाराज दशरथ ने स्वयं अपने हाथ से सुमित्राजी को नहीं दिया। वे इस बचे अन्तिम भाग के पुनः दो भाग कराते हैं और कौसल्याजी तथा कैकेयीजी के हाथ में एक एक भाग रख देते हैं और उन दोनों से अनुरोध करते हैं कि वे अपने हाथ से वह सुमित्रा को दे दें। यह बड़ा विचित्र बँटवारा है। पहले आधा आधा करना। फिर आधे के दो भाग करना। इन दो भागों में से एक कैकेयी को देकर बचे हुए दूसरे भाग के फिर दो भाग करना और इन दो भागों को अपने हाथ से सुमित्राजी को न देकर कौसल्याजी और कैकेयी के हाथ से उन्हें दिलाना! इसका क्या तात्पर्य हो सकता है? महाराज दशरथ इस बँटवारे की प्रक्रिया के द्वारा मानो अपनी रानियों को यह बताना चाहते हैं कि मैंने तो वितरण किया ही, अब तुम लोग भी वितरण करना सीखो। वितरण का अधिकार केवल मुझे नहीं, बल्कि तुम लोगों को भी है।

अच्छा, इस वितरण की प्रणाली में किसके प्रति पक्षपात होता है? अलग अलग दृष्टि से देखने पर पक्षपात भी अलग अलग के प्रति हुआ दिखाई देता है। एक दृष्टि से लगता है कि आधा भाग कौसल्याजी को

देकर उनके प्रति अधिक सम्मान प्रदर्शित किया गया है, पर कैकेयीजी सोचती हैं कि भले ही मैं पट्टमहिषी नहीं हूँ तथापि महाराज ने अपने हाथ में मुझे चरु देकर मेरा सम्मान किया है । ऊपरी दृष्टि से ऐसा लगता है कि सुमित्रा अम्बा को अन्य दो रानियों की तरह सन्मान नहीं मिला, क्योंकि महाराज दशरथ अपने हाथ से उन्हें चरु नहीं देते । पर यदि भीतर की दृष्टि से देखें, तो यह बात ठीक नही मालूम पड़ती, क्योंकि सुमित्राजी तो उपासनारूपा हैं । उपासना को सम्मान की आवश्यकता नहीं होती, उसमें अभिमान की भावना नहीं होती । अतएव यह निर्णय करना कठिन है कि सबसे अधिक पक्षपात किसके साथ हुआ, क्योंकि जब अन्य रानियों को एक एक पुत्र ही मिला, सुमित्रा अम्बा को दो पुत्र मिले । अतएव एक दृष्टि से देखें तो कौसल्याजी के प्रति पक्षपात दिखाई देता है, और दूसरी दृष्टि से देखने पर कैकेयीजी के प्रति तथा यदि पुत्रों की संख्या की दृष्टि से देखें, तो सुमित्राजी के प्रति ।

यह यज्ञ का चक्र है । अग्नि में आहुति दी गयी और अग्नि ने चरु दिया । जो देता है, वह पाता है । जो दिया जाता है वह लौटकर आता है । यही चक्र है । जब मुनि विश्वामित्र के अनुज सहित श्री रघुनाथ के माँगने पर महाराज दशरथ ने कहा—

चौथे पन पायउँ सुत चारी ।
विप्र वचन नहिं कहेहु विचारी ।। १।२०७।२

—हे विप्र, मैंने वृद्धावस्था में चार पुत्र पाये हैं, आपने विचार करके नहीं माँगा, तब विश्वामित्र को बड़ी हँसी आयी । उनका तात्पर्य यह था कि राजन्, तुम्हारे कोई भी पुत्र नहीं था, तुम मुनि के पास गये और उन्होंने तुम्हें चार पुत्र दे दिये । अब एक मुनि जब तुमसे आवश्यकता पड़ने के कारण तुम्हारे दो पुत्रों की माँग कर रहा है, तो तुम देने में आनाकानी कर रहे हो । यह कैसा बँटवारा है ! बँटवारे की प्रक्रिया कहती है कि जब पाते हो, तो दो भी । जब चार पाते हो, तो कम से कम दो तो देने का विचार रखो । यह वितरण है । अग्नि को दोगे, तो वह भी लौटाएगी । लौटाने के बाद स्वयं अपने पास मत रखो बल्कि बाँटो । महाराज दशरथ को चरु मिला, तो उन्होंने बाँटा और उन्होंने चरु जिस-जिसको दिया, उस उससे भी कहा कि बाँटों । वितरण के अन्त में पता चलता है कि सुमित्रा अम्बा ने दो भाग पाये । और धन्य हैं सुमित्रा अम्बा ! उनकी महानता

कितनी है । उनसे बढ़कर त्याग और किसी का नहीं है । उन्हें कौसल्याजी से एक और कैकेयीजी से एक ऐसे दो भाग मिलते हैं और वे लक्ष्मण और शत्रुघ्न दो पुत्रों को जन्म देती हैं, पर एक भी पुत्र को अपने लिए नहीं रखतीं, वे दोनों को अन्य दो माताओं के पुत्रों की सेवा के लिए समर्पित कर देती हैं- लक्ष्मण को राम की सेवा में लगा देती हैं और शत्रुघ्न को भरत की । यही उपासना है जो अपने लिए कुछ नहीं बचाती जो अपने पुत्रों को राजा बनने की नहीं, सेवक बनने की दीक्षा देती है । कैकेयीजी की महत्त्वाकांक्षा हो सकती है कि मेरा पुत्र राजा बने । कौसल्याजी को, ज्ञानशक्ति होने के नाते, आदरणीया होने के नाते, अपने पुत्र की राज्य-प्राप्ति पर सन्तोष हो सकता है, पर जिसने अपने पुत्रों को सेवाधर्म की दीक्षा दी, वह तो उपासना ही हो सकती है । सेवा में इतनी आसक्ति, इतनी महत्त्वबुद्धि सुमित्रा अम्बा के चरित्र को छोड़ और किसमें मिल सकती है ? यही कारण था कि जब श्री राम, राज्य का परित्याग कर, अपने चरित्र के महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिए, वन जाने को प्रस्तुत हुए, तो लक्ष्मणजी भी उनके साथ चलने का आग्रह करते हैं । उस समय श्री राम और श्री लक्ष्मण में स्नेहभरा संवाद होता है । जब लक्ष्मणजी को समाचार मिलता है कि श्री राम बन को जा रहे हैं, तो उनकी स्थिति विलक्षण हो जाती है । उनके जीवन में राम से वियोग की कल्पना ही नहीं है । गोस्वामीजी लिखते हैं —

समाचार जब लछिमन पाए ।
व्याकुल विलख बदन उठि धाए ।।
सोचु हृदयँ बिधि का होनिहारा ।
सबु सुखु सकृतु सिरान हमारा ।।
मो कहुँ काइ कहब रघुनाथा ।
रखिहहिं भवन के लेहहिं साथा ।।
राम बिलोकि बंधु कर जोरें ।
देह गेह सब सन तृनु तोरें ।। २।६९।१, ४-६

—जिस समय लक्ष्मण भगवान् राम के सामने आकर खड़े हुए, उस समय प्रभु को लगा कि लक्ष्मण न देह में हैं, न गेह में—मानों व्याकुलता की मूर्ति बने खड़े हैं । वे श्री लक्ष्मण को बड़े प्रेम से गले से लगा लेते हैं और बाद में सुन्दर उपदेश देते हैं । आज पहली बार प्रभु

ने बड़ा उपयुक्त भाषण दिया, कहा– लक्ष्मण, तुम्हारे समान वीर पृथ्वी पर कोई नहीं हैं, याद रखो तुम जैसा वीर यदि कर्तव्य से भागेगा, तो कायर कहलाएगा । इसलिए मैं तुमसे कहता हूँ —

तात प्रेम बस जनि कदराहू ।
समुझि हृदयँ परिनाम उछाहू ।। २।६६।८
जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी ।
सो नृपु अवसि नरक अधिकारी ।। २।७०।६

—'तात, परिणाम में होने वाले आनन्द को हृदय में समझकर तुम प्रेमवश अधीर मत होओ........। जिसके राज्य में प्यारी प्रजा दुखी रहती है, वह राजा अवश्य ही नरक का अधिकारी होता है ।' और इन शब्दों में प्रभु श्री लक्ष्मण को घर पर रहने के लिए कहते हैं । पर हम देखते हैं कि लक्ष्मणजी प्रभु की बात नहीं मानते । यह अनोखी बात लगती है । तो क्या लक्ष्मणजी सचमुच प्रभु की आज्ञा का उल्लंघन करते हैं ? नहीं । तब इसके पीछे का रहस्य क्या है ? प्रश्न उठता है कि क्या प्रभु वास्तविक ही लक्ष्मणजी को रुकने के लिए कह रहे थे अथवा वे मात्र यह कहकर अपने धर्म का पालन कर रहे थे कि मेरे साथ न चलो, यहाँ रुककर सब की सेवा करो ? इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि प्रभु तब लक्ष्मणजी से रुकने के लिए उतना नहीं कह रहे थे, जितना वे स्वयं अपने धर्मपालन की दृष्टि से कह रहे थे । जब भी ऐसा अवसर आये कि हम किसी से अपनी सेवा लें या समाज की, तो हर महापुरुष का सच्चा स्वरूप यही होगा कि वह अपनी सेवा के स्थान पर समाज की सेवा को महत्त्व दे । इसीलिए भगवान् राम श्री लक्ष्मण को उपदेश देते हैं कि तुम्हारा कर्तव्य राज्य और समाज की सेवा है, मेरी व्यक्तिगत सेवा नहीं । पर लक्ष्मणजी अपनी भूमिका को इतनी अच्छी तरह जानते हैं कि भगवान् राम के कहने का उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता । श्री भरत और श्री लक्ष्मण के चरित्र का मुख्य भेद यही है कि श्री भरत भगवान् राम के आदर्श के, विचारों के सेवक हैं, जबकि श्री लक्ष्मण प्रभु के व्यक्तिगत सेवक हैं । प्रश्न उठता है कि महापुरुषों की व्यक्तिगत सेवा की जानी चाहिए या उनके विचारों की ? हम भले ही इसके उत्तर में कहें कि विचारों की सेवा का अधिक महत्व है, पर केवल इतना ही उत्तर अपूर्ण होगा, क्योंकि जिस महापुरुष के द्वारा किसी महान् आदर्श की सृष्टि ही रही हो, उसकी व्यक्तिगत सेवा भी उतनी ही अपेक्षित है । विचार की सेवा में यश है और जो व्यक्तिगत सेवा में रहता है, उसे समाज

उतने सम्मान की दृष्टि से नहीं देखता । जो वृक्ष के पत्तों की सेवा करता है, उसे तो सभी देखते हैं और वह सबकी प्रशंसा का पात्र होता है, पर जो वृक्ष के मूल में जल देकर वस्तुतः प्रकारान्तर से पत्तों की ही सेवा कर रहा है, उसकी वह सेवा दिखायी नहीं देती । श्री भरत भगवान् राम के महान् आज्ञाकारी हैं और श्री लक्ष्मण भगवान् राम की आज्ञा कभी मानते हैं, कभी नहीं मानते । जो आदर्श का सेवक है, उसे आज्ञाकारी होना चाहिए और जो शरीर का सेवक है, उसे पूरी तरह आज्ञाकारी नहीं होना चाहिए । महापुरुषों के आदर्श की, उनके विचारों की सेवा करनी है, तो उनके आदर्श को, विचारों को प्रसारित कीजिए। पर यदि किसी महापुरुष के शरीर की सेवा करनी हो और वह महापुरुष सेवा लेने में संकोची हो तथा सेवक भी कहीं आज्ञाकारी मिल जाय, तब तो सेवा हो गयी ! आप किसी महापुरुष के चरण दबाने चले और वे कह दें आवश्यकता नहीं है, तो आप भी यदि 'जब आपकी आज्ञा ऐसी है, तो ठीक है' यह कहकर चरण दबाना छोड़ दें तो फिर सेवा किस प्रकार होगी ? ऐसी स्थिति में सेवक ऐसा चाहिए, जो महापुरुष के रोकने की परवाह न करे और आवश्यकता समझकर सेवा करता रहे । श्री भरत और श्री लक्ष्मण में यही अन्तर है। भरतजी सोचते हैं कि हमारे प्रभु इतने महान् हैं कि जो कहेंगे ठीक ही कहेंगे । और लक्ष्मणजी कहते हैं कि हमारे राम भोले हैं और बिना सोचे समझे आज्ञा दिया करते हैं, उनकी बात मानने से वे ही संकट में पड़ जाएँगे । ये दोनों ही प्रीति की भावनाएँ हैं-भरत और लक्ष्मण दोनों ही महान् प्रेमी हैं, पर भरतजी की प्रीति में अधिकार की वह वृत्ति नहीं, जो लक्ष्मणजी की प्रीति में है । तथापि लक्ष्मणजी के अन्तःकरण में अधिकार की यह जो वृत्ति है, वह अपने सुख के लिए नहीं, श्री राम को सुखी बनाने के लिए है । वे श्री राम से बार बार यही कहते हैं कि आप में बहुत गुण होंगे, पर आप अच्छे पारखी नहीं हैं-

नाथ सुहृद सुठि सरल चित सील सनेह निधान ।
सब पर प्रीति प्रतीति जियँ जानिअ आपु समान ॥ २।२२७

—'हे नाथ, आप परम सुहृद, सरल हृदय तथा शील और स्नेह के भण्डार हैं, आपका सभी पर प्रेम और विश्वास है और अपने हृदय में सबको अपने ही समान जानते हैं ।' यही कारण था कि लक्ष्मणजी और भगवान् राम में सर्वदा एक मतभेद रहा करता था । वे प्रभु से कहा करते—जरा प्रभाव प्रकट कीजिए और स्वभाव छिपा लीजिए । पर प्रभु का स्वभाव है—अपना

प्रभाव छिपाना और स्वभाव प्रकट करना । लक्ष्मणजी को लगता है कि संसार प्रभाव से ही नियंत्रित रहेगा, क्योंकि लोग स्वभाव की कोमलता का दुरुपयोग करते है ।

तो, प्रभु ने जब कहा कि लक्ष्मण, तुम मेरे साथ न चलो और धर्म पालन के लिए यहीं, रहो, तो लक्ष्मणजी ने उन्हें दो-चार वाक्यों में चुप करा दिया । उन्होंने प्रभु से पूछ दिया—आप जो यह उपदेश दे रहे हैं, उसका फल क्या है ? प्रभु, बोले—धर्म का पालन करने से समाज में व्यवस्था की वृद्धि होती है, ऐश्वर्य प्राप्त होता है और मरने के बाद सद्‌गति मिलती है । लक्ष्मणजी ने उलटकर पूछा- यदि किसी को तीनों में से कुछ नहीं चाहिए हो, तो वह धर्म का पालन करे या न करे ? उत्तर मिला —नहीं चाहिए तो कैसे हम कहे कि करे । लक्ष्मणजी ने कहा—मुझे कुछ नहीं चाहिए, मुझे कीर्ति नहीं, कलंक चाहिए; ऐश्वर्य नहीं, दरिद्रता चाहिए; स्वर्ग नहीं, नरक चाहिए । सबके बदले में मुझे सेवा छोड़ और कुछ नहीं चाहिए । ऐसे हैं लक्ष्मणजी, जिनका अन्तकरण त्याग की सुवास से भरा हुआ है । वे कह देते हैं—

धरम नीति उपदेसिअ ताही ।
कीरति भूति सुगति प्रिय जाही ॥ २।७१।७

—'धर्म और नीति का उपदेश तो उसको करना चाहिए, जिसे कीर्ति, विभूति (ऐश्वर्य), या सद्‌गति प्यारी हो ।'

प्रभु अचरज से लक्ष्मणजी की ओर देखते हैं, कहते हैं—मैंने इतना बढ़िया धर्म बताया और तुमने स्वीकार नहीं किया । लक्ष्मणजी उत्तर देते हैं—प्रभु, आपका धर्म तो बढ़िया है, पर मेरे योग्य नहीं है । जैसे आप किसी को बढ़िया कपड़े का कुरता बनवाकर दें और कहें कि कपड़ा इतने रुपये का है, सिलाई इतनी लगी है, और यह न देखें कि कुरता उसकी माप का है या नहीं, तो ऐसा ही यहाँ लक्ष्मणजी के साथ हो गया । वे कहतें कहते हैं प्रभु, आपने तो धर्म का बढ़िया कुरता बनाकर दे दिया, पर यह नहीं देखा कि वह मेरी माप का है या नहीं । मैं तो शिशु हूँ । आप बड़ों का कपड़ा छोटे को पहनाना चाहते हैं ? प्रभु ने कहा—लक्ष्मण, छोटे का कर्तव्य होता है कि वह बड़े का भार उठाए, तुम छोटे भाई हो, मेरा भार हलका करो । पर लक्ष्मणजी ने कहा—प्रभु छोटे की भी एक सीमा होती है । अगर २० वर्ष का कोई बड़ा भाई है, तो १९ वर्ष वाले

छोटे भाई का यह कर्तव्य है कि बड़े का भार उठाए, पर अगर २ वर्ष का छोटा भाई हो और बड़ा भाई उससे कहे कि तुम छोटे हो, बोझ उठाओ, तो बड़ा भाई भूल कर रहा है। वह नन्हा शिशु तो गोद में लेने योग्य है, वह भार क्यों उठाएगा ? श्री लक्ष्मण कह उठते हैं—

मैं सिसु प्रभु सनेहँ प्रतिपाला ।

मंदरु मेरु कि लेहिं मराला ॥ २।७१।३

—'मैं तो प्रभु आपके स्नेह में पला हुआ छोटा बच्चा हूँ । कहीं हंस भी मन्दराचल या सुमेरु पर्वत को उठा सकता है ? प्रभु बोले—लक्ष्मण, तुम यदि ऐसा कहो, तो बोझ फिर कौन उठाएगा ? लक्ष्मणजी ने कहा—

नरबर धीर धरम धुर धारी ।

निगम नीति कहुं ते अधिकारी ॥ १।७१।२

—शास्त्र और नीति के तो वे ही श्रेष्ठ पुरुष अधिकारी हैं जो धीर हैं और धर्म की धुरी को धारण करने वाले हैं । ऐसे श्रेष्ठ अधिकारी भाई भरत तो आ ही रहे हैं । वे सारे कर्तव्य का बोझ उठा ही लेंगे । इसलिए—

गुर पितु मातु न जानउँ काहू ।
कहउँ सुभाउ नाथ पतिआहू ॥
जहँ लगि जगत सनेह सगाई ।
प्रीति प्रतीति निगम निजु गाई ॥
मोरे सबइ एक तुम्ह स्वामी ।
दीनबन्धु उर अन्तरजामी ॥ २।७१।४-६

—स्वभाव से ही कहता हूँ, आप विश्वास करें, मैं आपको छोड़कर गुरु, पिता, माता किसी को भी नहीं जानता । जगत् में जहाँ तक स्नेह का सम्बन्ध, प्रेम और विश्वास है, जिनको स्वयं वेद ने गाया है—हे स्वामी, हे दीनबन्धु, हे सबके हृदय के अन्दर की जानने वाले, मेरे तो वे सब कुछ आप ही है । और ऐसा कह अन्त में लक्ष्मणजी दुहाई देते हुए कहते हैं—

नाथ दासु मैं स्वामि तुम्ह तजहु न काह बसाइ २।७१

- हे नाथ, मैं दास हूँ और आप स्वामी हैं अतः आप मुझे छोड़ ही दें :

तो मेरा क्या वश है ? लक्ष्मणजी का तात्पर्य यह है कि प्रभु, आप ईश्वर हैं, मेरे स्वामी हैं और मैंने तो सुना है कि ईश्वर कभी अपने आश्रित का त्याग नहीं करता । अब यदि आप मुझे छोड़ जाएँगे, तो इसका मतलब यही होगा कि आप अपने धर्म का त्याग कर रहे हैं । और जब आप ही अपने धर्म का इस प्रकार त्याग कर देंगे, तब भला मैं अपने धर्म का पालन कैसे कर पाऊँगा ? इसलिए, प्रभु, आप मुझे साथ रखकर अपने धर्म का पालन कीजिए और मुझे सेवा का अवसर प्रदान कीजिए ।

प्रभु समझ गये कि यहाँ तर्क काम नहीं देने वाली है । वे एक अनोखा खेल करते हुए कहते हैं—

मागहु बिदा मातु सन जाई । २।७२।१

——जाकर माता से विदा माँग आओ । जरा शब्दों को देखिए, प्रभु यह नहीं कहते कि जाकर माता से आज्ञा माँग लो । वे जानते थे कि लक्ष्मण फिर से नाही कर देंगे । आज्ञा माँगना और विदा माँगना इन दोनों में अन्तर है । आज्ञा माँगने में बन्धन है, पर विदाई में मात्र शिष्टाचार की पूर्ति है । यदि आज्ञा ही लेनी होती, तो श्री लक्ष्मण को प्रभु माता के पास क्यों भेजते, तब तो पिता के पास भेजते, क्योंक पिता राजा हैं और राजा से आज्ञा माँगना ही समीचीन होता । पर प्रभु तो खेल कर रहे हैं । वे सोचते हैं कि लक्ष्मण सब कुछ त्याग कर मेरे साथ चल रहा है, वह एक बार सुमित्रा अम्बा से मिल तो ले । प्रभु कभी कभी दो भक्तों को मिलाकर अनोखा रस लेते हैं . मिलाने का उद्देश्य यह होता है, कि दोनों भक्त मिलकर एक दूसरे से कुछ ले लें, कुछ पा लें, जिससे किसी के मन में यह भावना भूल से भी न उत्पन्न हो कि मेरी भक्ति और मेरा ज्ञान अनूठा है । सुमित्रा अम्बा और लक्ष्मण का मिलन इसी भूमिका को प्रस्तुत करता है ।

'रामचरितमानस' में लंकाकाण्ड में प्रसंग आता है कि लक्ष्मणजी को दो बार शक्ति लगी—एक बार मेघनाद के द्वारा और दूसरी बार रावण के द्वारा । जब मेघनाद के द्वारा शक्ति लगी, तो भगवान् ने सुषेण वैद्य को बुलवाया, दवा पूछी गयी और हनुमानजी को दवा लेने भेजा गया । पर जब रावण ने शक्ति मारी और लक्ष्मणजी मूर्छित हुए, तब भगवान् ने न वैद्य बुलाया, न दवा की । हनुमानजी लक्ष्मणजी को प्रभु की गोद में रख गये प्रभु ने लक्ष्मण के कान में एक वाक्य कहा—

तुम्ह कृतांत भच्छक सुर त्राता ।६।८३।६

—लक्ष्मण, तुम काल को खाने वाले हो, इस प्रकार से पड़े रहोगे तो मैं कितनी बार वैद्य और दवा बुलाउँगा। और प्रभु के यह कहते ही लक्ष्मणजी क्षण भर में उठकर बैठ गये । उस रात्रि प्रभु की चरण सेवा करते हुए हनुमानजी बोले—प्रभु, पूरा रहस्य प्रकट हो गया कि आपने मुझे दवा लेने पहली बार क्यों भेजा था । जैसे इस समय आपने लक्ष्मणजी को चैतन्य कर दिया, वैसे ही तब भी तो कर सकते थे, पर उस बार तो आप मुझे श्री भरत से मिलाना चाहते थे और इस बार लक्ष्मणजी की मूर्छा के माध्यम से आपने उनके स्वरूप को प्रकट कर दिया, यह बता दिया कि लक्ष्मणजी काल के भी काल हैं, फिर वहाँ मूर्छा कहाँ है, उन्हें कौन परास्त कर सकता है ? तो, प्रभु दवा लाने के बहाने हनुमानजी और भरतजी इन दो सन्तों का मिलन कराते हैं और दोनों इस मिलन का अलग अलग अर्थ लेते हैं ।

श्री भरत से यदि कोई पूछ दे कि हनुमानजी औषध लेकर अयोध्या के ऊपर क्यों आये, तो वे कहेंगे कि प्रभु ने मेरे प्रश्न का उत्तर देने के लिए उन्हें भेजा था । उत्तरकाण्ड के प्रारम्भ में हमें भरतजी के मन का ऊहा-पोह दिखायी देता है । वे कहते हैं—मेरे मन में एक प्रश्न उठता था कि प्रभु मुझे साथ क्यों नहीं ले गये ? मैंने तो चित्रकूट में प्रभु के समक्ष एक विकल्प रखा था कि लक्ष्मण को वापस कर मुझे साथ में ले लें, पर प्रभु मुझे नहीं ले गये, लक्ष्मण का ही चुनाव किया । यह प्रश्न मेरे मन में छिपा हुआ था । तो हनुमानजी को भेज कर उन्होंने मेरे इस प्रश्न का उत्तर दे दिया । प्रभु समझ गये कि मैं कैसा हूँ—

अहइ धन्य लछिमन बड़भागी ।
राम पदारबिन्दु अनुरागी ॥
कपटी कुटिल मोही प्रभु चीन्हा ।
ताते नाथ संग नहिं लीन्हा ॥ ७।०।६४

—अहा हा, लक्ष्मण बड़े धन्य एवं बड़भागी हैं, जो श्री रामचन्द्रजी के चरणार-बिन्द के प्रेमी हैं । मुझे तो प्रभु ने कपटी और कुटिल पहचान लिया, इसी से नाथ ने मुझे साथ नहीं लिया । उन्होंने हनुमानजी को भेजकर मुझे दिखा दिया कि मैं कैसा हूँ । जिस समय हनुमान जैसा सन्त पर्वत लेकर आकाश के ऊपर दिखायी पड़ा और मैंने राक्षस समझकर उस पर वाण

चला दिया, तभी से मुझे अपने चरित्र का सच्चा ज्ञान हो गया कि जो इतने बड़े सन्त को निशाचर समझता है, उसकी दृष्टि कितनी मलिन न होगी ! यदि हनुमानजी न आये होते, तो मैं अपनी दृष्टि की मलिनता को जानता कैसे ? भक्त तो निशाचर में भी भगवान् देखता है और मैंने भक्त में निशाचरत्व देखा । मैंने समझ लिया कि मेरी दृष्टि कितनी मलिन है । मानो में राक्षस की श्रेणी में ही चला गया । प्रभु के एक सेवक लक्ष्मणजी को मेघनाद ने गिराया और दूसरे सेवक हनुमानजी को मुझ जैसे नीच ने । मैं तो लंकावासियों की ही श्रेणी में आ गया । इस प्रकार प्रभु ने मुझे दिखा दिया कि मैं इस योग्य था ही नहीं कि वे मुझे ले जाते । सन्त के दर्शन से मुझे अपनी कमी का ज्ञान हो गया ।

पर जब प्रभु ने हनुमानजी से पूछा कि तुम्हें भरत से मिलकर कैसा लगा, तो उन्होंने कहा—प्रभु सच कहूँ, आपके चरणों में इतने दिन रहकर भी मैं जितना नहीं सीख पाया, उससे कहीं अधिक मैंने भरतजी के पास एक घण्टे रहकर सीख लिया । जब भरतजी ने मुझ पर वाण मारा और मैं नीचे गिर पड़ा, तो पर्वत ऊपर ही रह गया । इससे मुझे पहली शिक्षा यह मिली कि पर्वत उठाने वाले आप थे, मैं नहीं, क्योंकि यदि मैं पर्वत उठाये होता, तब तो मेरे गिरने के साथ साथ पर्वत भी गिर पड़ता, लेकिन पर्वत तो नहीं गिरा, मैं जरूर गिर गया । अतएव पर्वत को उठाने वाली शक्ति आपकी थी, मैं तो केवल निमित्त दिखायी दे रहा था । यदि भरत जी वाण न मारते, तो इस सत्य की प्रतीति मुझे होती कैसे ? और दूसरी शिक्षा तो यह मिली कि मुझमें कोई विश्वास ही नहीं है । विश्वास तो भरतजी में है । पहले में अपने को विश्वासी समझता था, पर भरतजी का विश्वास देख मुझे लगा कि मेरा विश्वास कोई विश्वास ही नहीं है । जब लक्ष्मणजी मूर्छित हुए, तो मैं वैद्य को घर सहित उठा लाया । जब दवा की आवश्यकता पड़ी, तो पर्वत को उठा लाया । मैं समझता था कि मैं वैद्य ले जा रहा हूँ दवा ले जा रहा हूँ । पर जब मैं अयोध्या में मूर्छित हुआ तो भरतजी ने न तो वैद्य बुलाया, न दवा बुलायी, बस एक वाक्य कहकर मेरी मूर्छा दूर कर दी—

जौं मोरें मन बच अरु काया ।
प्रीति रामपद कमल अमाया ॥
तौ कपि होउ बिगत श्रम सूला । ६।५८।६-७

—यदि मन, बचन और शरीर से श्री रामजी के चरण कमलों में मेरा निष्कपट प्रेम हो, तो यह वानर थकावट और पीड़ा से रहित हो जाय। और त्योंही मैं चैतन्य हो गया। तब मुझे लगा कि यदि मुझमें भी श्री भरत की तरह विश्वास होता, तो न मैं वैद्य लाता, न पर्वत, विश्वास के ही आधार पर आपके चरणों की कृपा से लक्ष्मणजी की मूर्छा दूर कर देता। इस लिए मुझे बोध हो गया कि विश्वास तो भरतजी में है, मुझमें नहीं। तो दोनों सन्तों ने मिलकर एक दूसरे से एक दूसरे का गुण, एक दूसरे की विशेषता प्राप्त की।

तो, अयोध्या में जब श्री लक्ष्मण भी प्रभु के साथ वन जाने का आग्रह करते हैं, तो प्रभु सोचते हैं कि जाने के पहले जरा लक्ष्मण को सुमित्रा अम्बा से मिला दें। और जब माता और पुत्र मिलते हैं, तो यह कहना कठिन हो जाता है कि महान् कौन है। जब विदा लेने के लिए लक्ष्मण सुमित्रा अम्बा के पास पहुँचकर उन्हें प्रणाम् करते हैं, तो वे पूछती हैं—बेटा, तुम्हारी आँखों में आँसू कैसे ? तब तक उन्हें श्री राम के बनगमन का समाचार नहीं प्राप्त हुआ था। लक्ष्मणजी उन्हें यह समाचार सुनाते हैं। माँ व्याकुल हो जाती हैं, उनकी आँखों में आँसू भर जाते हैं। जब लक्ष्मणजी माता की आँखों में आँसू देखते हैं, तो उन्हें शंका होती है—

एहिं सनेह बस करब अकाजू। २।७२।७

—कहीं माता स्नेहवश काम न बिगाड़ दें। उन्हें लगता है कि मैं विदा लेने आया हूँ, इसलिए माता ममता के वश में आँसू बहा रही है। वे डरते हैं कि माँ शायद अब कहेगी कि बेटा, शत्रुघ्न तो घर में है नहीं, अब यदि तुम भी चले जाओगे, तो मैं किसके आसरे रहूँगी ? लेकिन जब लक्ष्मणजी सुमित्रा अम्बा का कथन सुनते हैं, तो उन्हें लगता है कि शायद प्रभु ने विदा लेने नहीं, शिक्षा लेने भेजा है। सुमित्रा अम्बा कहती हैं—लक्ष्मण, तुम वैदेही के पुत्र होकर भी देह को माता समझते हो ? तुम्हें तो देह से ऊपर उठ जाना चाहिए था—

तात तुम्हारि मातु वैदेही।
पिता रामु सब भाँति सनेही॥ २।७३।२

—बेटा, जान लो, जानकी तुम्हारी माता हैं और सब प्रकार से स्नेह करने वाले राम तुम्हारे पिता हैं। यदि राम ने माता से विदा माँग आने को कहा, तो तुम्हें सीता के चरणों में गिरकर बिदा माँग लेनी थी। यदि तुम ऐसा करते,

तो मैं समझती कि तुमने ठीक किया है। तुम कहते हो कि बन जा रहे हो। पर तुम वन कहाँ जा रहे हो ? तुम तो अयोध्या जा रहे हो। वन तो यह होने जा रहा है, क्योंकि अयोध्या वहीं है, जहाँ राम हैं—

अवध तहाँ जहँ राम निवासू ।

तहइ दिवसु जहँ भानु प्रकासू ।। २।७३।३

तुम कहते हो कि तुम गुरु, पिता, माता किसी को नहीं मानते। तुम्हें तो राम से कहना चाहिए था कि तुम्हीं मेरे गुरु, पिता, माता हो और गुरु, पिता, माता की सेवा प्राण समान करनी चाहिए, इसलिए मुझे बन साथ ले चलो—

गुर पितु मातु बंधु सुर साईं ।

सेइअहिं सकल प्रान की नाईं ।। २।७३।५

—फिर राम के साथ जाने में तुम्हें क्या दुःख ? तुम तो अपने माता-पिता के साथ घूमने जा रहे हो। वास्तव में त्याग तो राम कर रहे हैं, जो तुम्हारे लिए राज्य, माता-पिता, सब कुछ छोड़कर वन जा रहे हैं—

तुम्ह कहुँ बन सब भाँति सुपासू ।

सँग पितु मातु रामु सिय जासू ।। २।७४।७

—तुम्हें वन में सब प्रकार से आराम रहेगा। तुम ऐसा मत सोचना कि मैं तुम्हारी माता हूँ, तुम्हारी माता तो सीता हैं। यदि राम के चरणों के पास बैठकर तुम सोचने लगे कि मेरी माता अयोध्या में है, तो तुम्हारा शरीर भले ही राम के पास रहे, पर तुम्हारा मन मेरे पास अयोध्या आ जायगा। इसलिए बिल्कुल भूल जाओ कि मैं तुम्हारी माता हूँ। पर मैं याद रखूँगी कि तुम मेरे बेटे हो, मैं अपने आपको तुम्हारी माँ मानूँगी, क्योंकि—

पुत्रवती जुबती जग सोई ।

रघुपति भगतु जासु सुतु होई ।।

नतरु बाँझि भलि बादि बिआनी ।

राम बिमुख सुत तें हित जानी ।। २।७४।१-२

—संसार में वही युवती स्त्री पुत्रवती है, जिसका पुत्र रघुनाथ का भक्त हो। नहीं तो जो राम से विमुख पुत्र से अपना हित जानती है, वह तो बाँझ ही अच्छी। पशु की भाँति उसका ब्याना व्यर्थ ही है। फिर जब तुम राम के

चरणों में रहोगे तो तुम्हारे नाम के साथ मेरा नाम भी राम के चरणों में रहेगा— सुमित्रा के पुत्र को राम के चरणों में रहने से मेरा भी रहना हो ही जायगा।

माता सुमित्रा लक्ष्मण से एक और मोठी बात कहती हैं। जब सीता तुम्हारी माता हैं, तो मेरा फिर क्या स्थान है? मेरा स्थान वही है, जो दूध के सन्दर्भ में पात्र का होता है। भगवान् को जब दूध का भोग लगाया जाता है, तब किसी पात्र में उसे रखकर ही ऐसा किया जाता है। बिना पात्र का स्पर्श किये व्यक्ति दूध नहीं पी सकता। तो सुमित्रा अम्बा अपने को वही पात्र मानती हैं—

भूरि भाग भाजनु भयहु मोहि समेत बलि जाउँ।
जौं तुम्हरे मन छाड़ि छलु कीन्ह राम पद ठाउँ ॥२/७४

—मैं बलिहारी जाती हूँ, मेरे समेत तुम बड़े ही सौभाग्य के पात्र हुए, जो तुम्हारे चित्त ने छल छोड़कर राम के चरणों में स्थान प्राप्त किया है।

और लक्ष्मणजी माँ का उत्तर सुनकर समझ गये कि प्रभु ने मुझे माता के पास क्यों भेजा था। उन्होंने कहा — माँ, मैं तुम्हारी पात्रता से धन्य हो गया। यदि दूध अच्छा हो और पात्र ठीक न हो, तो दूध फट जाता है। तुम्हारी पात्रता ने मुझे कृतार्थ कर दिया।

प्रभु ने लक्ष्मण को विदा माँग आने को कहा, स्वयं नहीं गये। सुमित्रा अम्बा का परिवार बड़ा विलक्षण है, इसे सामान्य बुद्धि से समझा नहीं जा सकता। प्रभु ने सोचा कि माँ से मैं एक बार कर्ज ले चुका हूँ और उसे लौटाया नहीं, तब भला किस मुँह से अब फिर से उधार माँगने जाऊँ? पर उन्हें माँ की उदारता पर विश्वास है, इसलिए वे लक्ष्मण से कहते हैं कि तुम्हीं विदा माँग आओ। अच्छा, माता सुमित्रा लक्ष्मण के साथ क्यों नहीं आयीं। इसलिए कि उन्हें लगा कि कहीं मुझे देखकर राम के मुँह पर संकोच का भाव न आये। जो वस्तु मेरी है नहीं, उसे देने के गर्व का भार मैं क्यों वहन करूँ? यही सोचकर वे लक्ष्मण के नाथ नहीं आयीं और उन्होंने लक्ष्मण से कहा — जाओ, राम तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे होंगे, तुमने देर लगा दी। वह भक्त ही क्या, जो प्रभु से प्रतीक्षा करवाये? और अन्त में माता सुमित्रा लक्ष्मणजी को आशीर्वाद देती हुई कहती हैं—

रति होउ अविरल अमल सिय रघुवीर पद नित नित नई। २/७४/छं

—सीता और राम के चरणों में तुम्हारा निर्मल एवं प्रगाढ़ प्रेम नित नित नया हो ।

लक्ष्मणजी को माताजी से तो विदा मिल गयी, पर वे सोच रहे थे कि उर्मिला क्या कहती हैं । उन्हें डर था कि कहीं वे प्रणाम करने के लिये न आ जाएँ । पर उर्मिला उन्हें प्रणाम करने तक नहीं आयीं । यह देख बड़ा आश्चर्य होता है । उर्मिला ने जब श्री राम और साथ में श्री लक्ष्मण के वनगमन की बात सुनी, तो उन्होंने सोचा—यदि मैं प्रणाम करने जाऊँगी, तो जिस प्रकार वे माता के आँसुओं को देखकर भयभीत हो गये थे, उसी प्रकार कहीं मुझे देखकर हो गये, तो यह स्थिति मेरे लिए सह्य नहीं होगी । इसीलिये वे लक्ष्मणजी के सामने नहीं गयीं । उन्होंने तो अपने आपको श्री किशोरीजी की सेवा के लिए समर्पित कर दिया था । वे लक्ष्मणजी को एक क्षण के लिए भी नहीं रोकना चाहती थीं, वे उनके कर्तव्य-पथ पर, बलिदान पथ पर चलने में पल भर के लिए भी रुकावट नहीं बनना चाहती थीं ।

ये ऐसे पात्र हैं, जिन्होंने स्वयं को मिटाकर राम राज्य की स्थापना में नींव की ईंट की तरह कार्य किया । ये दिखायी नहीं देते, पर इनके त्याग के आधार पर ही राम-राज्य का निर्माण हुआ । वास्तव में ये सहानुभूति नहीं श्रद्धा के पात्र हैं ।

—



अष्टम व्याख्यान

पिछले प्रवचनों में हम लोगों ने श्री लक्ष्मणजी की भूमिका को देखने का प्रयास किया। यह देखा कि वे हर क्षण भगवान् श्री राम के साथ हैं और श्री राम की आवश्यकता के अनुसार अपनी भूमिका बदलते रहते हैं। केवल एक ही प्रसंग से भगवान् राम, लक्ष्मणजी को अपनी भूमिका में साथ नहीं लेते, और फल यह होता है, कि उन पर संकटों का बादल टूट पड़ता है। वैसे भगवान् श्री राम लक्ष्मणजी से कुछ छिपाते नहीं थे। एक ही बार छिपाया और उसी के बाद सारी दुर्घटनाएँ घट गयीं। गोस्वामी जी कहते हैं कि जब श्री सीताजी के हरण की योजना बनी, तब लक्ष्मणजी बन में कन्द मूल फल लेने गये हुए थे। प्रभु ने श्री लक्ष्मण को अपनी इस योजना में सम्मेलित नहीं किया, उसका एक कारण था। प्रभु ने विचार किया कि यदि मैं लक्ष्मण से कहूँ कि रावण का वध करने के लिए यह योजना बनायी जा रही है, तो सम्भवतः वे यह कह दें कि उसके लिए इतनी झंझट करने की क्या आवश्यकता है, मैं अभी जाकर रावण का वध किये देता हूँ। इससे तो फिर नाटक का ठीक ठीक विस्तार नहीं हो पाएगा, लक्ष्मण की प्रीति उसमें अवरोध बनेगी। इसलिए यही एक प्रसंग है जहां भगवान् राम लक्ष्मण से कुछ छिपाने की चेष्टा करते हैं, अन्यथा सब जगह श्री लक्ष्मण भगवान् श्री राम के साथ हैं।

कल आपके सामने प्रसंग चल रहा था कि श्री राम वन को जा रहे हैं। श्री लक्ष्मणजी भी साथ चलना चाहते हैं, पर प्रभु साथ चलने से मना करते हैं, तिस पर भी श्री लक्ष्मण नहीं मानते, वे प्रभु की आज्ञा अस्वीकार कर देते हैं। यह विचित्र बात मालूम होती है। श्री लक्ष्मण ऐसा क्यों करते हैं! तीन तरह के सेवक होते हैं — एक तो वे जो आज्ञा प्राप्त होने पर उसका पालन करते हैं, दूसरे वे जो आज्ञा प्राप्त होने से पहले स्वामी के मन की बात भाँपकर उसे पूरा करने में लग जाते हैं, और तीसरे वे, जिनके मन में स्वामी के मन में उठने से पहले ही स्वामी की आवश्यकता का भान हो जाता है, और उसकी पूर्ति में वे लग जाते हैं। ये तीसरे प्रकार के सेवक दुर्लभ होते हैं, पर ये ही सर्वोत्कृष्ट सेवक हैं।

स्वामी के मन में जो बात भविष्य में आती है, वह ऐसे सेवकों के मन में वर्तमान में ही उपस्थित हो जाती है । लक्ष्मणजी ऐसे ही सर्वोत्कृष्ट सेवक हैं । भगवान् राम लक्ष्मणजी से कहते तो हैं कि बन में न चलो पर, उन्हें स्वयं यह ज्ञात नहीं कि बन में उन्हें लक्ष्मणजी की कितनी आवश्यकता पड़ेगी । इस आवश्यकता को प्रभु की अपेक्षा श्री लक्ष्मण अधिक जानते हैं, इसीलिये वे प्रभु के निषेध करने पर भी बन साथ चलने का आग्रह करते हैं । आश्चर्य तो इस बात का होता है कि भगवान् राम लक्ष्मण को रोक क्यों रहे थे, क्योंकि यदि श्री लक्ष्मण न होते, तो आगे चलकर उनकी समग्र लीला का निर्वाह भी सम्भव न होता । श्री लक्ष्मण की खूबी इतनी ही नहीं है कि वे श्री राम की आवश्यकता को उनकी भी अपेक्षा अधिक जानते हैं, बल्कि यह भी कि श्री राम की आवश्यकता को श्री राम की आवश्यकता न बता, अपनी आवश्यकता बताते हैं । वे श्री राम से कहते हैं — **मैं सिसु प्रभु सनेहँ प्रतिपाला**" (२/७१/३) —— 'मैं तो आपके स्नेह में पला हुआ नन्हा शिशु हूँ', मैं आपके बिना नहीं रह सकता । और इस प्रकार आग्रह करते हुए वे श्री राघवेन्द्र के साथ बन-पथ में चलते हैं।

विगत सात दिनों में हम यहीं तक पहुँच पाये हैं । अब एक दिन में अयोध्या काण्ड से उत्तारकाण्ड तक कैसे पहुँचें ? अतः सूत्र के रूप में कुछ बातें आपके सामने रख दें।

जब वन-पथ में श्री लक्ष्मण चलते हैं, तो उनके चलने का एक क्रम है । जब बैठते हैं, तो बैठने का भी एक क्रम है । यह "रामचरितमानस" तो एक दर्शन है, काव्य है, पुराण है, धर्मशास्त्र है और सामाजिक जीवन के लिये एक महामंत्र है — आप चाहे जिस दृष्टि से देखिये । तो, भगवान् श्री राम के वनगमन में लक्ष्मणजी की भूमिका क्या है ? बैठने में अलग और चलने में अलग । जब तीनों बैठते हैं, तो क्रम प्रदर्शित करते हुए गोस्वामीजी लिखते हैं —

राम वाम दिसि जानकी, लखन दाहिनी ओर ।
ध्यान सकल कल्यानमय, सुरतरु तुलसी तोर ॥

—— लक्ष्मणजी प्रभु के दायें रहते हैं और सीताजी बायें । ओर जब चलते हैं, तो क्रम रहता है ——

आगे रामु लखनु बने पाछें ।
तापस वेष विराजत काछें ॥
उभय बीच सिय सोहति कैसें ।
ब्रह्म जीव बिच माया जैसें ॥ २/१२२/१-२

—जहाँ बैठने के क्रम में भगवान् राम मध्य में हैं, तथा श्री सीताजी और श्री लक्ष्मण आजू-बाजू हैं, वहीं चलने के क्रम में सीताजी मध्य में हैं तथा भगवान् राम और श्री लक्ष्मण आगे और पीछे । सामान्यतया मध्य में जो रहता है वह श्रेष्ठ होता है श्रेष्ठ कौन है—भगवान् राम या श्री सीता ? पर गोस्वामीजी एक दूसरी उपमा देते हैं। भले ही किसी समय श्री राम मध्य में हों और दूसरे समय श्री जानकी, पर ये दोनों के दोनों लक्ष्मणजी की ओर देखते हैं। किस प्रकार देखते हैं।

जोगवहिं प्रभु सिय लखनहिं कैसें।
पलक बिलोचन गोलक जैसें ॥ २।१४१।१

—मानो भगवान् राम और सीताजी नेत्रों की दो पलकें हों और लक्ष्मणजी बीच की पुतली । यहाँ पर पुतली बीच में आ गयी और पलकें दोनों ओर रहीं । गोस्वामीजी का तात्पर्य यह है कि स्थूल दृष्टि से देखने पर भले ही कभी श्री राम मध्य में दिखायी देते हों और कभी श्री सीताजी, पर भाव की दृष्टि में तो लक्ष्मणजी ही दोनों के मध्य शोभा पाते हैं। वे दोनों के वात्सल्य के चिरन्तन भागी हैं । तभी तो गोस्वामीजी ने 'गीतावली रामायण' में एक चित्र प्रस्तुत किया। भगवान् श्री राम की दृष्टि गयी बनस्थली की ओर। देखा सामने वन में लता और वृक्ष के द्वारा एक सुन्दर कुंज का निर्माण हो गया है। प्रभु सीताजी के साथ उसी लता कुंज में जाकर बैठे। लता और वृक्ष को देख प्रभु को स्मरण हो आया और उन्होंने जानकी जी की ओर देखकर कहा — देखो प्रिये, यह दृश्य कितना अच्छा लग रहा है । यह वृक्ष सौभाग्यशाली है, जिसकी अपूर्णता को लता ने पूर्ण कर दिया है । वृक्ष के पत्तों में तो छिद्र हैं, पर लता कै उस पर छा जाने के कारण उसके सारे छिद्र ढक गये हैं । इस पर सीताजी बोलीं — मैं ऐसा नहीं मानती । वस्तुतः सौभाग्य तो लता का हैं। अगर कहीं वृक्ष ने अपनी भुजा का आश्रय दे उसे इतना ऊपर न उठाया होता, तब तो लता कहीं भूमि में ही पड़ी रहती और कोई पशु उसे चर जाता । यह

तो वृक्ष का ही बड़प्पन है कि उसने आश्रय दे लता को ऊपर उठाया, उसे सम्मान दिया, सुरक्षा प्रदान की ।

जब श्री राम वन जाने को प्रस्तुत हुए, तो कौसल्या अम्बा ने उनसे कहा, "राघवेन्द्र, यह जो मेरी पुत्रवधू है, वह कल्पलता है — **कलप-बेलि जिमि बहुविधि लाली' (२।५८।३)** —इसका लालन-पालन मैंने कल्पलता की तरह किया है। तो क्या यह उचित होगा कि तुम इस कल्पलता को वन में ले जाओ ? माँ ने तो कविता कर दी, पर श्री किशोरीजी ने माँ की ओर देखकर संकेत किया कि माँ मैं अगर लता हूँ। तो वृक्ष के आश्रय के बिना रहूँगी कैसे ? वृक्ष के आश्रय में ही तो लता सुरक्षित रहती है ? तो, यहाँ वृक्ष और लता प्रतीक बन गये। वृक्ष के प्रतीक बन गये श्री राम और लता की प्रतीक बनीं श्री सीताजी। दोनों में प्रगाढ़तम अनुराग है। भगवान् राम को लगता है कि उनमें जो कमी थी, वह सीताजी ने पूरी कर दी । तभी तो वे सीताजी से कहते हैं कि लता ने वृक्ष की अपूर्णता पूर्ण कर दी ! और भावुक भक्तजन भी यही बात कहते हैं तभी तो गोस्वामीजी एक मधुर काव्यमयी कल्पना करते हैं ।

विवाह के मण्डप में भगवान् राम हाथ में सिन्दूर लेकर सीताजी के माथे पर लगाने चले हैं। गोस्वामीजी को लगता है—

अरुन पराग जलजु भरि नीकें ॥
ससिहि भूष अहि लोभ अमी कें ॥ १।३२४।८

—मानो कमल को लाल पराग से अच्छी तरह भरकर अमृत के लोभ से साँप चन्द्रमा को भूषित कर रहा है। यहाँ पर गोस्वामीजी श्री राम के हाथ को कमल की, सेन्दुर को पराग की, श्री राम की श्याम भुजा को साँप की और सीताजी के मुख को चन्द्रमा की उपमा देते हैं। गोस्वामीजी कहते हैं—मुझे ऐसा लग रहा है, जैसे सर्प अमृत के लोभ से कमल लेकर चन्द्रमा को भूषित कर रहा हो। गोस्वामीजी ने अपनी समूची कवित्व-शक्ति इन शब्दों में रख दी । क्या तात्पर्य है ? पहले तो उन्होंने भगवान् राम की भुजा को सर्प बना दिया, जिस पर कई लोगों को आपत्ति हो सकती है। प्राचीन टीकाकारों में से कई लोगों ने तो यह माना ही नहीं कि इस चौपाई में 'अहि' का अर्थ सर्प है। उन्हें लगा कि भगवान् राम तो यह पहली बार ही श्री सीताजी का स्पर्श कर रहे हैं, उन्हें सिन्दूर लगा रहे हैं और क्या ऐसे समय गोस्वामीजी इतने भावविहीन हो गये कि भगवान् की भुजा को साँप बना दिया ? कहाँ उस समय उनकी भुजा

को सुकोमल की उपमा देनी चाहिए थी और कहाँ सर्प जैसी कठोर वस्तु के साथ उसकी उपमा कर दी ! यदि युद्ध का समय होता, तो सर्प की उपमा सार्थक हो सकती थी, जैसा कि गोस्वामीजी अरण्यकाण्ड के युद्ध के प्रसंग में करते हैं। जब भगवान् राम युद्ध के लिए तैयार होने हेतु अपनी जटाओं को बाँधने लगे, तो गोस्वामीजी लिखते हैं—

मरकत सयल पर लरत दामिनि
कोटि सों जुग भुजग ज्यों । ३।१७।छं.

—'मानो मरकतमणि (पन्ने) के पर्वत पर करोड़ों बिजलियों से दो साँप लड़ रहे हों । तो, यहाँ पर भुजाओं को साँप कहना सार्थक है । पर इस मधुर पाणि-ग्रहण के अवसर पर, सिन्दूरदान के अवसर पर, शृंगार के प्रसंग में भगवान् राम की भुजा को सर्प बनाना बड़ा असंगत प्रतीत होता है । किन्तु यदि हम थोड़ा गहराई से विचार करके देखें, तो गोस्वामीजी की अनोखी सूझ का पता चलेगा । उनके शब्दों पर ध्यान दें । वे कहते हैं कि सर्प मानो अमृत के लोभ से चन्द्रमा का अभिषेक कर रहा हो । अब सर्प की निन्दा इसीलिए तो होती है कि वह जहरीला होता है। सर्प को अपनी आलोचना सुनते-सुनते मानो चिन्ता हो गयी कि वह गरल-रूप है । उसने सुना कि चन्द्रमा के पास अमृत है। उसने विचार किया कि यदि उससे अमृत ले लें, तो कम से कम हमारा कलंक तो मिट जाय । इसी प्रकार मानो अखण्ड ज्ञानघन भगवान् राम को लगा कि लोग मुझे योद्धा के रूप में ही जानते हैं, मेरे धनुष-बाण को देखकर लोगों को लगता है कि ये हाथ तो संहार करने के लिए हैं, तो अब यदि हम भक्तिरूपी सीता से करुणा का अमृत प्राप्त कर लें, तो लोगों को हमारे शौर्य पर नहीं, करुणा पर विश्वास होगा । अतः जब सर्प अमृत के लोभ से चन्द्रमा को भूषित कर रहा है, तो विष के द्वारा यहाँ पर दंशन का प्रसंग कहाँ ! मानो भगवान् राम सीताजी से कुछ ले रहे हैं ।

यह विचित्र बात है। वे सिन्दूर दे रहे हैं या ले रहे हैं ? गोस्वामीजी कहते हैं- दिखायी तो यही दे रहा है कि दे रहे हैं, पर यह जो दे रहे हैं, वह वस्तुतः लेने के लोभ में । बात बड़े पते की है। सिन्दूर सौभाग्य का चिन्ह माना जाता है तो, जब कोई अपनी पत्नी के माथे में सौभाग्य का दान देता है, तो वह वस्तुतः स्वयं अपने को आशीर्वाद देता है। अगर कोई अपनी पत्नी को सौभाग्यवती होने का आशीर्वाद दे, तो वह वास्तव में अपने को ही आशीर्वाद दे रहा है कि कि मैं सुरक्षित रहूँ । इस प्रकार सिन्दूर दान में अपने को ही सुरक्षा प्रदान करने की प्रवृत्ति है । इसीलिए भगवान् राघवेन्द्र दे नहीं रहे हैं, सुरक्षा,

ले रहे हैं । इसके साथ ही गोस्वामीजी और एक बढ़िया कल्पना करते हैं । वे कहते हैं कि सर्प से हम इसीलिए तो डरते हैं कि वह काल या मृत्यु का प्रतीक है । पर जब सबको मारने वाला काल ही सिन्दूर देने लगे, सौभाग्य-दान करने लगे तब तो मृत्यु का भय ही समाप्त हो गया, सीताजी को अखण्ड सौभाग्य का वरदान प्राप्त हुआ और इस प्रकार स्वयं प्रभु को ही अखण्ड जीवन प्राप्त हो गया ।

गोस्वामीजी एक और मधुर कल्पना करते हैं । सर्प के पास विष था, अमृत नहीं, और जब वह चन्द्रमा से अमृत माँगने चला, तो उसने सोचा—कुछ देकर ही तो माँगना चाहिए । अब प्रश्न यह है कि चन्द्रमा को सर्प क्या दे ? गोस्वामीजी की काव्य-कल्पना देखिए । वे कहते हैं कि सर्प ने चन्द्रमा को वह दिया, जो उसने कभी देखा न था—'अरुन पराग जलजु भरि नीकें'—कमल को लाल पराग से भरकर चन्द्रमा को दिया ! चन्द्रमा संसार में सब कुछ पा ले सकता है, पर कमल का पराग वह कभी नहीं पा सकता, क्योंकि चन्द्रमा जब उदित होगा, तब कमल मुँद जायगा, तो फिर उसका पराग कहां से मिले ?

तो, प्रभु अमृत पाने के लिए सिन्दूर क्या दे रहे हैं, मानो श्री किशोरीजी के प्रति उनके हृदय में जो अनन्य अनुराग है, उससे भक्तिदेवी का श्रृंगार करके करुणारूपी अमृत प्राप्त कर मानो उनके प्रति अपनी कृतज्ञता का भाव अर्पित कर रहे हैं । दार्शनिक दृष्टि से भी यह बात सत्य है कि भक्ति के बिना ब्रह्म में रसमयता नहीं आती । यदि ब्रह्म में केवल ज्ञान की ऊँचाई ही ऊँचाई हो और भक्ति न हो, तो रसाभाव रहेगा । अतएव प्रभु ठीक ही कहते हैं कि श्री सीताजी-रूपी लता से ऊँचे वृक्ष-रूपी ब्रह्म की शोभा-रूपी रसमयता बनी हुई है ।

इस तरह श्री सीताजी और भगवान् श्री राम दोनों अपने-अपने पक्षों का प्रतिपादन करते हैं । किन्तु निर्णय नहीं हो पाता है । तब प्रभु अपने चिरसंगी श्री लक्ष्मण को बुलाते हैं और कहते हैं कि तुम निर्णय करो । पहले जानकीजी अपना पक्ष प्रस्तुत करती हैं, फिर भगवान् राम । श्री लक्ष्मण दोनों पक्षों को ध्यानपूर्वक सुनते हैं और कहते हैं कि आप दोनों ही बिलकुल ठीक कहते हैं—वृक्ष और लता दोनों सौभाग्यशाली हैं, पर चित्र इतने में पूरा नहीं होता, क्योंकि दोनों से अधिक और पूर्ण सौभाग्यशाली तो वह पथिक है, जो दोनों की छाया में विश्राम करता है । आप दोनों तो आधे-आधे सौभाग्यशाली हैं, पर पूरा सौभाग्यशाली तो मैं हूँ, जिसे आप दोनों का पूर्ण स्नेह प्राप्त है !

यह तो हुआ बैठने का क्रम । और जब चलते हैं तो आगे-आगे प्रभु चलते

हैं और सबसे पीछे लक्ष्मण । मानो प्रभु आगे चल कर मार्ग में पड़े काटों को अपने चरणों में स्वीकार करते हैं, जिससे पीछे चलने वालों के पैरों में काँटा न चुभे। यही तो प्रभु की अशेष करुणा है कि वे पसीजकर जीवों का कष्ट अपने ऊपर ले लेते हैं । जीवन-पथ ऐसा है, जहाँ कभी पुष्पों की वर्षा होती है, तो कभी कांटे मिलते हैं। ऐसे में हम क्या करें ? हम प्रभु को देखें, उनके जीवन से सीखें । भगवान् राम तो ईश्वर थे, वे चाहते तो उनके पथ में सदैव पुष्प ही बिछे रहते । पर वे तो हमें चलना सिखाने आये थे । इसीलिए उन्होंने जीवन में केवल फूलों का पथ ही स्वीकार नहीं किया, बल्कि कांटों के मार्ग पर भी चले । जिसने भी उन्हें कांटों के मार्ग पर चलते देखा, उसके मन में यही आया कि क्या ये सुकुमार चरण काँटों पर चलने योग्य हैं ? गाँव की एक स्त्री ने जब देखा, तो वह कह उठी कि ब्रह्मा कितना निर्दयी है ! एक तो ब्रह्मा को इन्हें वन नहीं भेजना था और जब भेज ही दिया, तो उसे एक कार्य करना चाहिए था ।

जो जगदीस इन्हहि वनु दीन्हा ।

कस न सुमनमय मारगु कीन्हा ॥ २।१२०।४

—उसे सारा रास्ता पुष्पमय बना देना था । फूलों की सड़क बनाकर वन भेज देते, तो कोई बात नहीं थी ।

श्री राम को वन भेजने के कारण का अनुमान करती हुई एक सखी दूसरी सखियों से कहने लगी— जानती हो, ब्रह्मा ने इन्हें वन में क्यों भेजा ? ब्रह्मा को इनसे ईर्षा हो गयी । इनकी सुन्दरता देख ब्रह्मा ने सोचा कि ऐसी ही मूर्ति मैं भी बना दूँ, पर बहुत चेष्टा करने पर भी जब वह न बना सका, तो उसे लगा कि यदि ये नगर में रहेंगे, तो नागरिक हमारी आलोचना करते रहेंगे । इसलिए ईर्षा के वश हो उसने इनको जंगल में लाकर छिपा दिया, ताकि लोगों की आलोचना से वह बच जाय—

एक कहहिं ए सहज सुभाए ।

आपु प्रगट भए विधि न बनाए ॥

इन्हहि देखि बिधि मनु अनुरागा ।

पटतर जोग बनावै लागा ॥

कीन्ह बहुत श्रम ऐक न आए ।

तेहि इरिषा बन आनि दुराए ॥ २।११९।२, ५-६

गाँव की तीसरी स्त्री ने कहा कि यदि ब्रह्मा इन्हें छिपाना ही चाहता है, तो एक उपाय हमारे पास है—

जौं मागा पाइअ विधि पाहीं ।
ए रखिअहिं सखि आँखिन्ह माहीं ॥ २।१२०।५

—हम इन्हें अपनी आंखों में छिपाकर रख लेंगी । इससे इन्हें कोई देख भी न पाएगा, फिर इनके सुकुमार चरणों को कोई कष्ट भी न होगा और ब्रह्मा का उद्देश्य भी पूरा हो जायगा । ये तो ऐसे सुकुमार हैं कि नेत्र में ही रखने योग्य हैं !

पर इतना होते हुए भी प्रभु ने वन के काँटों को ही स्वीकार किया ! भगवान् वेदव्यास 'श्रीमद्भागवत' में (९।११।१९) प्रभु के कंटक-विद्ध चरणों का स्मरण करते हैं । वे लिखते हैं कि जब श्री राम अपनी लीला का संवरण करने लगे, तब --

स्मरतां हृदि विन्यस्य विद्धं दण्डककण्टकैः ।
स्वपादपल्लवं राम आत्मज्योतिरगात् ततः ॥

—'अपना स्मरण करने वाले भक्तों के हृदय में अपने उन चरणकमलों को स्थापित करके, जो दण्डकवन के काँटों से बिंध गये थे, अपने स्वयंप्रकाश परम ज्योतिर्मय धाम में चले गये ।' यह प्रभु की करुणा का स्मरण है ।

आज रामनवमी है—प्रभु के अवतार की तिथि है । प्रभु ने इस संसार में अवतार क्यों लिया और अवतार लेकर उन्होंने क्या पाया ? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि भगवान् राम ने अपनी पूरी लीला में चार वस्तुएँ पायीं । अवतार लेते ही उन्होंने आँसू पाये । अवतरित होते ही उन्होंने माता कौसल्या से पूछा—क्या करें ? माता ने कहा—'कीजै सिसुलीला' । बस, त्योंही 'सुनि बचन सुजाना रोदन ठाना'—प्रभु की आंखों में आँसू आ गये । तो, अयोध्या में उन्हें आँसू मिला । और जब वे जनकपुर गये, तो दूसरी वस्तु मिली । जब वे लता-कुंज से प्रकट हुए, तो 'भाल तिलक श्रम बिन्दु सुहाए ।' इस प्रकार जनकपुर में उन्हें 'श्रमबिन्दु' मिले । अयोध्या में उनके माथे पर पसीना नहीं दिखायी देता । फिर जब दण्डकारण्य गये, चित्रकूट गये, तो काँटे मिले । और जब लंका गये, तो विभीषण को बचाने की प्रक्रिया में उन्हें छाती पर वाण का प्रहार सहना पड़ा । तो, आज के दिन जब हम श्री राम का ध्यान करें, तो केवल उनकी सुन्दरता को ही न देखें, अपितु उनके उन चरणों पर भी दृष्टि डालें, जो काँटों से बिधे हुए हैं, उन नेत्रों को भी देखें, जिनमें आँसू भरे हुए हैं, उस

भाल का भी अवलोकन करें, जो पसीने से भरा हुआ है और उस छाती का भी ध्यान करें, जिसने बाण की चोट सही है। काँटे यदि विघ्न के प्रतीक हैं, तो आँसू दु:ख के, पसीना यदि श्रम का प्रतीक है, तो बाण काल का। मानो प्रभु संसार के समस्त जीवों से कहते हों—मैं तुम्हारा विघ्न, तुम्हारा दु:ख तुम्हारा श्रम, तुम्हारा काल लेने आया हूँ। तुम मुझसे आनन्द लेकर इन वस्तुओं को मुझे दे दो। प्रभु के अवतार का उद्देश्य ही यह है—सबका दु:ख लेकर अपने आनन्द का वितरण करना। जीवन के इस कण्टकाकीर्ण मार्ग पर चलकर भगवान् श्री राम ने हम लोगों को चलना सिखाया।

वे कैसे चलते हैं, इस पर वाल्मीकि और गोस्वामीजी में भेद है। वाल्मीकि कहते हैं कि लक्ष्मणजी आगे हैं, उनके पीछे सीताजी हैं और सबसे पीछे भगवान् राम। यह भी बड़ी सुन्दर भावना है। मानो भगवान् राम दोनों के पीछे उनकी रक्षा के लिए चल रहे हैं। गोस्वामीजी का कथन है कि आगे भगवान् राम हैं, बीच में सीताजी और सबसे पीछे लक्ष्मणजी। यहाँ गोस्वामीजी की भावना भिन्न है, वह यह कि यह वन का पथ काँटों से भरा हुआ है और जो आगे चलेगा, उसके पैर में काँटे चुभेंगे। मानो प्रभु ने दोनों से कह दिया—हम बड़े हैं, तुम पीछे चलो। प्रभु का तात्पर्य यही था कि यदि काँटे चुभें तो मेरे पैरों में चुभें, पीछे चलने वालों के पैरों में न चुभ पाएँ। तभी तो गोस्वामीजी ने अपने किसी भी साहित्य में श्री सीताजी या श्री लक्ष्मणजी के पैरों में काँटे लगने का वर्णन नहीं किया है। भगवान् राम अपने भक्तों का पथ निष्कण्टक बनाते हैं।

एक सज्जन ने पूछ दिया--ठीक है, श्री राम आगे चल रहे थे, पर क्या वे काँटे बचाकर नहीं चल सकते थे? कभी कभी लोग बहुत बुद्धि से सोचने लग जाते हैं। वैसे यह बहुत बुद्धि से सोचने की बात नहीं है, पर लोग सोचने लगते हैं। इसका कोई उपाय भी नहीं है। वे मानते हैं कि उनके सोचने के पीछे तर्क है। ठीक है, यदि कोई व्यक्ति चलते समय नीचे की ओर दृष्टि करके चले, तो कांटों से तो बच सकता है, पर प्रश्न यह है कि श्री राम क्या नीचे की ओर दृष्टि करके चल सकते थे? 'कवितावली' और 'गीतावली' को पढ़ने से ज्ञात होता है कि भगवान् राम किस प्रकार चलते थे। प्रभु लौटकर बार बार देखते जाते थे कि कहीं पीछे चलने वाले दोनों जन थक तो नहीं गये—"**सादर बारहिं बार सुहायँ चिते तुम्ह त्यों, (कवितावली अयो. कां., २१)** ऐसी दशा में उनके पैरों में कांटे लगना स्वभाविक ही था। भले ही प्रभु आगे चल रहे थे, पर उनकी दृष्टि पीछे की ओर थी। हम एक हैं, जो चलते हैं तो पीछे लौटकर देखते ही नहीं कि साथ वाले थक तो नहीं गये, वे कहीं पीछे तो नहीं छूट गये।

और तीनों में परस्पर प्रीति की पराकाष्ठा है । लक्ष्मणजी कहते हैं—प्रभु, मुझे जरा प्यास लग गयी है । तो क्या लक्ष्मणजी को सचमुच प्यास लगी है ? नहीं । उन्हें तो आगे चलने वालों का ध्यान हो आता है । प्रभु को चिन्ता है कि हमारे पीछे चलने वालों को काँटे न लगें, और लक्ष्मणजी सोचते हैं कि हमारे प्रभु और श्री किशोरीजी को कहीं प्यास न लग आयी हो । वे ऐसा क्यों पूछें कि आप लोगों को प्यास लगी है क्या ? वे ऐसा बताते हैं कि उन्हें स्वयं प्यास लगी है, इसलिए कहते हैं कि जरा जल पी लिया जाय । प्रभु तब मुसकराकर लक्ष्मणजी से कहते हैं—लक्ष्मण, जाओ जल पी आओ और थोड़ा हम लोगों के लिए भी लेते आना । लक्ष्मण आज्ञा पाकर जल लेने चले जाते हैं । तब सीताजीका वात्सल्य उमड़ पड़ता है । उन्हें लक्ष्मणजी के लिए चिन्ता हो आती है ।

अयोध्या में वनवास के लिए जाते समय भगवान् राम ने सीताजी को वन के भय दिखाते हुए कहा था—वन में तो सिंह हैं, व्याघ्र हैं, अन्य जन्तु हैं, बड़े बड़े राक्षस हैं । तब सीताजी उत्तर में बोली थीं—क्या आपको यह भाषा शोभा देती है कि आप मुझे यह कहकर डराएँ कि वन में सिंह है, व्याघ्र हैं ?

को प्रभु सँग मोहि चितवनिहारा ।
सिंघबधुहि जिमि ससक सिआरा ॥ २।६६।७

—प्रभु के साथ रहते मेरी ओर आँख उठाकर देखनेवाला कौन है । सिंह की पत्नी को क्या सियार और खरहे डरा सकते हैं ? यह कहकर सीताजी ने एक मीठी चुटकी भी ले ली, कहा—अगर आप सचमुच यह अनुभव कर रहे हैं कि जंगल में बहुत भय है, तो भी आप चिन्ता न करें । क्यों, चिन्ता कैसे न करूँ, जब मैं साथ चल रहा हूँ तब ?—श्री राम ने पूछा । इसलिए कि—

प्राननाथ प्रिय देवर साथा ।
वीर धुरीन धरें धनु भाथा ॥ २।६८।१

—मेरे प्यारे देवर मेरी रक्षा को यथेष्ट हैं । जब तक लक्ष्मण साथ हैं, तब तक आप चिन्ता क्यों करते हैं ? तो, एक ओर श्री किशोरीजी के हृदय में श्री लक्ष्मण की वीरता के प्रति इतना विश्वास है, और दूसरी ओर उनके प्रति ममता और वात्सल्य की ऐसी पराकाष्ठा है कि जब वे जल लेने के लिए चले गये, तो उन्हें (किशोरीजी को) चिन्ता लग जाती है । वे श्री राम से कहती हैं—

जल को गए लक्खनु, हैं लरिका
परिखौ, पिय ! छाँह घरीक ह्वै ठाढे ।
(कवितावली, अयो. कां. १२)

--प्रियतम, लक्ष्मणजी बालक हैं, वे जल लेने गये हैं, सो कहीं छाँह में एक घड़ी खड़े होकर उनकी प्रतीक्षा कीजिए । चलते ही मत जाइये, कहीं लक्ष्मण वन का मार्ग न भूल जायँ । और प्रभु मुसकराकर बैठ जाते हैं । एक काँटा लेकर पैर का काँटा निकालने लगते हैं । श्री सीताजी कहती हैं—दीजिए, मैं निकाल दूँ । प्रभु विनोद करते हैं—नहीं, नहीं तुम्हारा काम तो मेरे चरणों तक पहुँचाना है, जो वहाँ तक पहुँच चुका है, उसे वहाँ से दूर करना नहीं ! इस-लिए तुम्हें कैसे काँटा निकालने दे सकता हूँ ? इस पर सीताजी बोलीं--तो फिर रुक जाइए, लक्ष्मण आ जायँ तो निकाल देंगे । प्रभु ने कहा—नहीं, कभी ऐसी भूल न करना । मैं तो चाहता हूँ कि लक्ष्मण के आने से पहले ही कांटा निकल जाय, या फिर वह पैर में ही बिल्कुल समा जाय ।

"ऐसा क्यों, महाराज ?"

"कहीं लक्ष्मण ने मेरे पैरों का काँटा देख लिया, तो पृथ्वी को ही दण्ड देने के लिए तैयार न हो जाय कि हमारे प्रभु के चरणों में काँटा क्यों लगा दिया ?"

:...:

कैसी प्रीति है लक्ष्मणजी की श्री राम के प्रति ! प्रेम का यह विलक्षण स्वरूप है । लक्ष्मणजी प्रभु के विरुद्ध किसी को सह ही नहीं सकते । जहाँ ऐसी अनोखी प्रीति हो, वहाँ क्या फूल की सड़क प्यारी लगेगी ? जिस पथ में अनु-राग-रस की इतनी वर्षा हो रही हो, वहाँ क्या काँटा, काँटा रह जायगा ? आप कल्पना कीजिए, क्या जनकपुर और अयोध्या में वह जल मिल सकता था, जो प्रभु के प्रेमाश्रुओं के रूप में मिला ? प्रभु जब प्रेम-भरी दृष्टि से श्री सीताजी को देखते हैं, तो उससे जो उन्हें तृप्ति प्राप्त होती है, वह क्या अयोध्या या जनकपुर के राजमहल में प्राप्त हो सकती थी ? यहां, वन के मार्ग में, एक दूसरे के प्रति जो प्रेमपूर्ण चिन्ता की भावना है, उससे क्या वह मार्ग वन का मार्ग रह गया ? क्या काँटे, काँटे रह गये ? यदि चलना न आए, तो फूल भी शूल बन जाते हैं । और यदि चलना आ जाए, तो शूल फूल बन जाते हैं । इसका अभिप्राय यह है कि जो लोग फूल पर चलते समय अहंकार से गर्वीले हो जाते हैं कि देखो, हम कितने महान् हैं, जो फूल पर चल रहे हैं, वे भले ही समझ रहे हों कि फूल पर चल रहे हैं, पर वास्तव में ऐसी कल्पना करके उन्होंने अपने पथ में अहंकार का शूल बिछा लिया और वे गिरे बिना नहीं रहेंगे । जो व्यक्ति शूलों के पथ पर चलता हुआ अनुराग, प्रीति के द्वारा उसे फूलों के पथ में परिवर्तित कर लेता है, उसके लिए शूल फिर शूल कहाँ रह जाते हैं ?

श्री सीताजी प्रभु के चरणों में काँटे देख अचरज में पड़ गयीं । पूछ बैठीं —यह क्या ? आपके चरणों में काँटे कहाँ से लग गये, मेरे अथवा लक्ष्मण के पैरों में तो नहीं लगे ? प्रभु ने दार्शनिक समाधान प्रस्तुत कर दिया । बोले —बात यह है, लोग मुझे ज्ञान का स्वरूप मानते हैं और तुम्हें भक्ति का । तुम और हम एक ही रास्ते पर चले, पर मेरे पैरों में काँटे लगे, तुम्हारे पैरों में नहीं, इसका सीधा-सा तात्पर्य यही है कि ज्ञान का पथ कण्टकाकीर्ण है, जबकि भक्ति का पथ निष्कण्टक है । लक्ष्मण तुम्हारे पीछे चल रहा था, इसलिए वह भी काँटों से बच गया ।

तो, यह तीनों की वन-पथ में चलने की कला है । परस्पर के प्रति स्नेह, अनुराग और प्रीति की पराकाष्ठा है, इसलिए वन के दुःख-कष्ट, दुःख-कष्ट नहीं रह जाते ।

गोस्वामीजी चलने के इस क्रम में श्री सीताजी के चलने का वर्णन करते हुए लिखते हैं--

प्रभु पद रेख बीच बिच सीता ।
धरति चरन मग चलति सभीता ।। २।१२२।५

— सीताजी भगवान् राम के दो चरणों के मध्य में अपना चरण रखती हैं । और लक्ष्मणजी कैसे चलते हैं ? वे चलने के बड़े पक्के कलाकार हैं । यद्यपि वे सीताजी के पीछे पीछे चल रहे हैं, पर बिल्कुल पीछे नहीं चलते । जैसे सीताजी श्री राम के ठीक पीछे चल रही हैं, वैसा लक्ष्मणजी श्री सीताजी के ठीक पीछे नहीं चलते । तो ?—

सीय राम पद अंक बराएँ ।
लखन चलहिं मगु दाहिन लाएँ ।। २।१२२।६

— वे सीताजी और श्री रामचन्द्रजी दोनों के चरणचिन्हों को बचाते हुए उन्हें दाहिने रखकर रास्ता चल रहे हैं । यह चलने की कला है । आगे चलने वाले की सार्थकता इसमें है कि वह पीछे चलने वालों का विघ्न-कष्ट स्वयं वरण कर ले ! और पीछे चलना तो कोई सीताजी से सीखे । सीताजी प्रभु की दो चरण-रेखाओं के मध्य अपना चरण रखती हैं । सीताजी डरती हैं कि कहीं मेरा चरण प्रभु की चरण–रेखा पर न पड़ जाय और इस प्रकार उनकी चरण-रेखा को कहीं बिगाड़ न दे । तात्पर्य यह है कि अनुयायी को चाहिए वह इस बात का निरन्तर ध्यान रखें कि जिसके पीछे हम चल रहे हैं, कहीं उसकी मर्यादा

को बिगाड़ तो नहीं रहे हैं, उसकी मर्यादा को मिटाने की चेष्टा तो नहीं कर रहे हैं। यह सीताजी के चलने की कला है।

और लक्ष्मणजी के चलने की कला तो सबसे विलक्षण है। भगवान् राम ब्रह्म हैं और श्री सीताजी माया। किसी ने गोस्वामी जी से विनोद किया — तो इसका अभिप्राय यह है कि लक्ष्मणजी माया के पीछे पीछे चल रहे हैं? गोस्वामीजी इसका विलक्षण उत्तर देते हैं। उनकी काव्य शैली देखिये। कोई दूसरा साधारण वर्णनात्मक कवि होता, तो लिखता कि आगे भगवान् राम हैं, उनके पीछे श्री सीताजी और श्री सीताजी के पीछे लक्ष्मण। पर गोस्वामी जी कहते हैं — **"आगें रामु लखनु बने पाछें"** (२।१२२।१) — आगे राम हैं और पीछें लक्ष्मण, बीच में हैं सीताजी। अब हम साधारण लोगों के लिए इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता कि चाहे जैसे लिख दिया जाय — चाहे लिखो कि आगे राम, उनके पीछे सीता और सीता के पीछे लक्ष्मण, अथवा लिखो आगे राम, पीछे लक्ष्मण और बीच में सीता, पर दर्शन की दृष्टि से अवश्य इसमें अन्तर पड़ जाता है कि बात कैसे लिखी गई है। यहाँ ब्रह्म और जीव का विवेचन हो रहा है। तो, जीव ब्रह्म के पीछे चलेगा या माया के पीछे? साधारण जीव तो माया के पीछे ही चलता है, पर लक्ष्मण जैसे जीवाचार्य के लिए गोस्वामीजी कैसे लिख सकते हैं कि वे भी माया के पीछे चल रहे हैं? इसीलिए वे लिखते हैं कि लक्ष्मण श्री राम के पीछे हैं।

दूसरी बात, गोस्वामीजी यह जो लिखते हैं कि लक्ष्मणजी सीताजी के ठीक पीछे नहीं चलते, बल्कि उन्हें कुछ दायें रखकर चलते हैं, इसका भी एक विशेष दार्शनिक संकेत है। कल्पना कीजिये यदि लक्ष्मण ठीक सीताजी के पीछे चलें, तो उससे सीताजी की पीठ ही दिखायी देगी और इस व्यवधान के कारण श्री राम नहीं दिखाई देंगे। इसीलिए लक्ष्मणजी ने चलने की कला का प्रयोग किया। वे थोड़ा हटकर चलते हैं, जिससे, श्री सीताजी तो दिखायी देती रहें, पर वे जिनके पीछे चल रही हैं, वे भी दिखाई देते रहें। यही संकेत है। हम संसार पथ पर चलते हैं तो, संसार ही दिखायी देता है। लक्ष्मणजी से हमें यही सीखना है कि हम ऐसे चलें, जिससे संसार तो दिखता रहे, पर साथ ही जो संसार का बनाने वाला है, वह भी दिखाई देता रहे। तब चलने में कोई कठिनाई नहीं होती। संकट तो तब आता है, जब माया तो दिखायी देती है, पर मायापति दिखायी नहीं देता।

संसार में कुछ लोग ऐसे होते हैं, **'जे बिनु काज दाहिनेहु बाएँ'** (१।३।१) — जो बिना ही प्रयोजन अपना हित करने वाले के भी प्रतिकूल आचरण

करते हैं। और ऐसे लोग सदैव रहेंगे। हम कहाँ तक ऐसे लोगों की चिन्ता करेंगे ? हम जीवन में सबकी अनुकूलता नहीं प्राप्त कर सकते। हम कितना भी सबके मंगल, सबके कल्याण में लगे रहें, पर कुछ लोग ऐसे अवश्य होंगे, जो हमारे बाँए हो जाएँगे। ऐसी दशा में लक्ष्मणजी चलकर हमें भी सार्थक संकेत देते हैं, वे भगवान को दाहिने रखकर चलते हैं — "**लखन चलहिं मगु दाहिन लाएँ**"। मानो संकेत देते हैं कि जीवो, तुम संसार के लोगों पर ध्यान न दो कि वे तुम्हारे दायें हैं या बायें, बस, यही चेष्टा करो कि भगवान् हमारे दायें हों, हमारे अनुकूल हों। बस यही ध्यान रखो कि हमारा यह कार्य भगवान् के अनुकूल है या नहीं। जो भगवान् को दाहिने करके चलता है, उसका जीवन धन्य है।

तो, गोस्वामीजी लिखते हैं कि श्री लक्ष्मण श्री राम और श्री सीताजी के चरण-चिन्हों को बचाकर चलते हैं। इसका अभिप्राय यह कि वे दोनों की मर्यादाओं को बचाकर चलते हैं। वे कभी भी मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करते। गोस्वामीजी यह भी संकेत देते हैं कि श्री सीताजी के द्वारा, लीला के लिए ही सही, एक ही बार श्री लक्ष्मण की रेखा की मर्यादा का पालन नहीं हो पाता, फलस्वरूप उन्हें भविष्य में कितना कष्ट उठाना पड़ा, रावण के यहाँ रहना पड़ा। गोस्वामीजी बताते हैं कि रावण मोह है, जो स्वर्णमृग का प्रलोभन लेकर सीताजी के सामने आता है। सीताजी भगवान् राम से प्रार्थना करती हैं कि मुझे इस मृग का चर्म ला दीजिये। प्रभु मायामृग के पीछे जाते तो हैं, पर लक्ष्मणजी से यह कह जाते हैं — **'सीता केरि करेहु रखवारी'** (३।२६।८) इसका अभिप्राय यह है कि यदि वैराग्य रक्षा के लिए बैठा हो, तो मोह भक्ति को चुरा नहीं सकता। उधर मारीच जब मरते समय प्रकट रूप से लक्ष्मण का नाम पुकारता है और जब सीताजी कहती हैं कि लक्ष्मण, जाओ, तुम्हारे भैया पर संकट पड़ा है, तो लक्ष्मणजी हँसते हैं। ब्रह्म पर भी कभी संकट पड़ सकता है ? भले ही स्वयं आदिशक्ति यह बात कहें, पर मैं नहीं मानता, यह लक्ष्मणजी का भाव है। तब सीताजी ऐसे कठोर वचन कहती हैं, जिनका उल्लेख तक गोस्वामीजी को सह्य नहीं है। गोस्वामीजी के शब्द देखिए—

मरम वचन जब सीता बोला।
हरि प्रेरित लछिमन मन डोला॥ ३।२७।५

कुछ लोग इसे सुधारने का प्रयास करते हैं। कहते हैं, शब्द यों होने चाहिए थे—

मरम वचन जब सीता बोली।
हरि प्रेरित लछिमन मति डोली॥

पर ऐसी बात नहीं है। तुलसीदास को व्याकरण का ज्ञान था। उनका अभिप्राय यह है कि श्री सीताजी बोली नहीं, वरन् उनके द्वारा बुलवाया गया। आगे चलकर किशोरीजी इस बात को स्पष्ट रूप से स्वीकार भी करती हैं। वे उस स्थिति का स्मरण करके कहती हैं —

जेहि विधि मोहि दुख दुसह सहाए।
लछिमन कहुँ कटु बचन कहाए ।। ३।९८।८

—जिस विधाता ने मुझसे दुःसह दुःख सहन कराये और लक्ष्मण को कड़ुवे वचन कहलाये। अभिप्राय यह कि श्री सीताजी के द्वारा कटु वचन कहलवाया गया। और जब लक्ष्मणजी जाने लगे, तो उन्होंने कुटिया के बाहर एक रेखा खींच दी। इसका तात्पर्य यह है कि यदि जीवन में पूर्ण वैराग्य न सही, वैराग्य की एक रेखा भी विद्यमान हो, तो मोह के द्वारा भक्ति का अपहरण असम्भव है।

जब रावण कपट वेष में आता है, तो अपने को उस वैराग्य की रेखा को पार करने में असमर्थ पाता है। तब वह श्री सीताजी से प्रश्न करता है — तुम इस रेखा को पार क्यों नहीं करती हो? सीताजी कहती हैं — इसे मेरे देवर ने खींचा है, इसलिए इसका सम्मान करूँगी। इस पर रावण हँसता है और कहता है - यह तो उल्टी बात हो गयी! यह ठीक है कि छोटों का कर्त्तव्य है बड़ों की मर्यादाका पालन करना, पर बड़ों को छोटा बाँधे, यह कहाँ तक उचित है? सीताजी मोह के इस तर्क से प्रभावित हो उस रेखा का उल्लंघन कर बैठती हैं और परिणाम होता है वियोग और दुःख। जिसने तेरह वर्ष तक उनकी मर्यादा का पालन किया, उस लक्ष्मण की रेखा का पालन सीताजी एक क्षण के लिए भी न कर सकीं! फल होता है भक्ति ज्ञान से अलग हो जाती है, शक्ति ब्रह्म से बिछुड़ जाती है। यही हमारे जीवन की भी कहानी है। अतएव यदि हम अपनी रक्षा करना चाहते हैं, तो हमें अपने जीवन में लक्ष्मणजी के रूप में वैराग्य की एक रेखा अवश्य रखनी चाहिए, जिसका लंघन हम न करें। हम यह ठान लें कि मोह की तृप्ति बस यहीं तक करेंगे, इसके आगे नहीं।

भगवान् अनन्त हैं और उनकी कथा भी अनन्त है। भगवान् राम का अवतार ही लोक कल्याण के लिए होता है और उनके इस कार्य में सहायक के रूप में श्री लक्ष्मण उस दण्ड के समान हैं जो पताका को फहराने के लिए समर्पित हैं। गोस्वामीजी की मान्यता है कि राम की कीर्ति-पताका इस लक्ष्मण-दण्ड के अभाव में नहीं फहरा सकती। अपने त्याग और समर्पण के कारण श्री लक्ष्मण का चरित्र 'मानस' में अप्रतिम है।

———

दृश्य प्रचार निदेशालय, सूचना और प्रसारण
सरकार द्वारा आकल्पित और प्रकाशित।
सेट वर्क्स, नई दिल्ली-110028
मु. प्र. V हिन्दी 1,25,000 अप्रैल, 79

